दश नाम नागे संन्यासियों का इतिहास

प्रथम खंड

[साम्प्रदायिक विवेचन]

लेखक

सर यदुनाथ सरकार

नाइट, सी० आई० ई०, डी० लिट०

प्रकाशक

श्री पंचायती अखाड़ा महानिर्वाणी, प्रयाग

१९५०

भूमिका

श्री स्वामी शंकराचाय द्वारा प्रवर्तित संन्यासियों के संघ, प्रधान रूप से, दस हैं। किन्तु इन दसों में भी प्रत्येक के अनेक विभाग हो गये हैं। इन विभागों में भी बहुत से तो ऐसे हैं जो अपनी नाममात्र की मूल जन्मदात्री संस्था के शासनाधिकार को स्वीकार करने में भी संकोच करते हैं। अनैक्य का एक अन्य कारण है शृंगेरी, पुरी, द्वारका और बद्रीनाथ नामक चार प्रादेशिक शंकर-पीठों के रूप में भारत का विभाजन। इसकी विशेषता यह है कि प्रत्येक पीठ दूसरे तीन पीठों से स्वतंत्र है। असंख्य दसनामी मठ किसी संयुक्त केंद्रिक अधिकार को, जिससे दस संघों के सिद्धांतों तथा उनकी परिपाटियों में अभिन्न रूपता आ सकती है, नहीं स्वीकार करते। इस कारण शंकर के जीवन-सम्बन्धी स्थानों और घटनाओं का भिन्न भिन्न मठों द्वारा सुरक्षित परम्पराओं में, भिन्न भिन्न रूप से वर्णन किया गया है और कुछ महत्त्वपूर्ण साम्प्रदायिक तथ्यों तथा अपने नियमों और परिपाटियों के सम्बन्ध में, (उदाहरण के लिए, शिष्य-समावर्त्तन-संस्कार, मठाधिपति का निर्वाचन, निम्न वर्णवालों का प्रवेश आदि) एक संघ से दूसरे में विभिन्नता देखी जाती है। एक पुस्तक में उन सबको गिनाना संभव नहीं है। इसलिए मैंने यहाँ शंकराचार्य के जीवन-चरित्र को उसी रूप में दिया है जिस रूप में वह उनके दो सर्व प्राचीन संस्कृत जीवन-चरित्रों में उपलब्ध है; साथ ही मैंने उन्हीं अखाड़ों के नियम दिये हैं, जिनके सम्बन्ध में सामग्री मिल सकती है। यदि बहुत से अन्य अखाड़े छूट गये हैं तो यह किसी अन्याय की इच्छा से नहीं बल्कि इस कारण कि जब उनसे जानकारी प्राप्त करने के लिए लिखा-पढ़ी की गई तो उन्होंने

कोई सूचना नहीं भेजी और उनके सम्बन्ध में कोई प्रकाशित सामग्री प्राप्त नहीं है।

जब इस पुस्तक का द्वितीय संस्करण होगा तब दसनामियों के उद्योग से उक्त दोष का निराकरण हो जायगा। यही सच्चे हृदय से मेरा आवेदन है।

यदुनाथ सरकार

विषय-सूची

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११५	१७	ट्रलन	डुलों

जगद्गुरु आदि शंकराचार्य

शंकरम् शंकराचार्यं केशवं वादरायणम् ।
सूत्रभाष्यकृतं वन्दे भगवन्तम् पुनः पुनः ॥

प्रथम अध्याय

शंकराचार्य का जीवनचरित्र

बौद्ध-काल के अनन्तर सम्पूर्ण हिन्दू-जीवन और विचार-धारा पर दो महान् पंडितों का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा है। उन्हीं दोनों के उपदेशों में निर्दिष्ट दो निकट निकट धाराओं में उसे प्रवाहित भी होना पड़ा है। हिन्दू-दर्शन और धार्मिक संगठन का साम्राज्य जैसे इन्हीं दोनों ने अपने बीच में बाँट लिया है। अन्य विचार-नेता भी हम लोगों के बीच में हुए हैं, यह मैं मानता हूँ; किन्तु वे इतने प्रसिद्ध नहीं हुए। उनका प्रभाव अपेक्षाकृत छोटे अथवा स्थानीय जन-विभागों पर ही पड़ सका है। साथ ही उनके उपदेशों को प्रेरणा प्रदान करनेवाला दर्शन भी इन्हीं दो मौलिक विचारदाताओं में से किसी न किसी के आश्रय से ही बल संग्रह कर सका है। यह और ही बात है कि यह आश्रय-ग्रहण कभी कुछ संशोधन के रूप में सामने आया और कभी कुछ विरोध-प्रदर्शन के रूप में। वैष्णव धर्मशास्त्र के प्रवर्त्तकों में निम्बार्क और माध्वाचार्य, चैतन्य और वल्लभाचार्य के स्थान सर्व्वोच्च हैं और उनका अत्यन्त व्यापक प्रभाव भी है। बंगाल, उड़ीसा

और अंशतः आसाम के धार्मिक जीवन पर चैतन्य की एकछत्र छाप है। इसी प्रकार गुजरात, मेवाड़ तथा कुछ अन्य प्रदेशों पर वल्लभसम्प्रदाय का अधिकार है।

वर्त्तमान समय में उपलब्ध ज्ञान के अनुसार हिन्दू धार्मिक विचार के उक्त दो सृष्टिकर्ता हैं—शंकराचार्य और रामानुज। दोनों ही में एक ओर सात्त्विक शुद्धि और दूसरी ओर उच्च कोटि का शास्त्रीय ज्ञान तथा मानसिक कुशाग्रता थी। दोनों ही ईश्वर के दो अवतारों के रूप में मान्य होकर लाखों भक्तों की अर्चना के पात्र रहे हैं। इनमें समय की दृष्टि से रामानुज शंकर के बाद हुए हैं और उनका प्रभाव भी शंकर की अपेक्षा छोटे जन-समुदाय और अधिक परिमित क्षेत्र के भीतर रहा है। इसके सिवा यह स्वीकृत सत्य है कि शंकर के सम्प्रदाय से कुछ अंशों में असहमत होकर ही रामानुज का सम्प्रदाय खड़ा हुआ है। वह शंकर के दर्शन को एक नया रूप देता है और इस प्रकार इस बात का सहज संकेत देता है कि शंकर का दर्शन उसका पूर्ववर्त्ती है।

भारतीय दर्शन के विकास के इतिहास में यह तो हुई बात शंकर के स्थान की। जनता के दैनिक जीवन पर उनका प्रभाव भी उतना ही महत्त्वपूर्ण रहा है और उनकी यह विशेषता उन्हें दुर्बोध-मात्र दार्शनिकों की

मण्डली से विलक्षण पार्थक्य प्रदान करती है, वे दार्शनिक विचार के क्षेत्र में कितने भी उत्कृष्ट क्यों न हों।

ईसाई मत ने रोमन साम्राज्य को किस प्रकार अपना अनुयायी बना लिया, इस प्रश्न पर योरप में बहुत दिनों तक बहस चली है। गिबन द्वारा इस विलक्षण सफलता के कारणों की प्रसिद्ध व्याख्या के सवा सौ वर्ष बाद अँगरेज विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि पूर्व ईसाई संघ ने रोमन साम्राज्य के शासन-संगठन का अनुकरण करके ऐसी कार्यशैली का निर्माण किया जिसे अन्य किसी मत ने अभी तक ग्रहण नहीं किया था और जिसके द्वारा उसने रोमन जगत् को इतनी सरलता और शीघ्रता के साथ अपना अनुगामी बना लिया: दसनामी संघों का संगठन शंकराचार्य के शिष्यों का चिर स्मारक है। उन्होंने अपने महान् आचार्य के इहलौकिक जीवन-कार्य को पूरा किया, जैसा कि इस ग्रंथ के पाँचवें अध्याय में बताया जायगा।

शंकर के जन्म के बहुत पहले बुद्ध ने अखाड़ों अथवा संगठित संघों की परिपाटी भारतवर्ष में चलाई थी, जिसके अनुसार धार्मिक साधक लोग एक उच्च अधिकारी के अनुशासन में रहते और अपने सम्प्रदाय के विभिन्न विभागों के प्रयासों का समीकरण करते थे। बुद्ध

ने अपने भिक्षुओं को अपने मत के साधन रूप में इतना मूल्यवान् समझा था कि उन्होंने बुद्ध और धर्म के समान महत्त्व देकर संघ को बौद्ध मत की त्रयी का एक अंग बना दिया था: 'बुद्धं शरणं गच्छामि।' 'धर्मं शरणं गच्छामि', 'संघं शरणं गच्छामि'। प्रत्येक देश में जहाँ बौद्ध धर्म अपने विशुद्ध रूप में है वहाँ उसके अनुयायी की यही प्रधान प्रार्थना है। और मठ-सम्बन्धी नियम, जिन्हें विनय कहते हैं, बौद्ध धर्मग्रंथों में प्रधान स्थान के अधिकारी हैं। भारतवर्ष में वैदिक युग से ही अथवा उसके और पहले जब से मानव-जाति में आत्मभाव का प्रथम उदय हुआ, एकान्तसेवी मुनि और धार्मिक साधक संसार को त्याग कर व्यक्तिगत मोक्ष का अनुसंधान करते आये हैं। लेकिन दशनामी संघों ने हिन्दू संन्यासाश्रम को विशाल हिन्दू-समाज की सेवा में लगा दिया। इस ढंग का कार्य केवल महायान बौद्ध मत अपनी उन्नति के दिनों में कर सका था।

दशनामी संन्यासियों ने अस्त्र और शास्त्र—तलवार और धर्मग्रंथ—का दुहरा आदर्श अपने सामने रखा है। उन्होंने एक ओर तो जनता की आध्यात्मिक शिक्षा के लिए धर्मशास्त्र-सम्बन्धी ज्ञानार्जन को और दूसरी ओर पाशवी शक्तियों के आक्रमण से अपने धर्म की रक्षा के

लिए शस्त्रविद्या के अभ्यास को अपनाया है। इस अंश में वे ईसाई योद्धा साधुओं के पूर्ववर्त्ती रहे हैं। ये ईसाई योद्धा* साधु बारहवीं शताब्दी में सामने आये, जब कि भारत के नागा अथवा योद्धा संन्यासी इतिहास में कई शताब्दियों पहले ही प्रकट होते हैं। अतएव इन अखाड़ों का अध्ययन शंकराचार्य के जीवन और कार्य से ही प्रारम्भ होना चाहिए, जहाँ उसका मूल उद्‌गम स्थान है।

शंकर के प्रचलित जीवनचरित्र, उनके परलोकवास के अनेक शताब्दियों बाद तैयार किये गये थे। उनमें से दो बहुत प्रसिद्ध हैं। एक का नाम है 'संक्षेप-शंकर-जयः' और उसे माधवाचार्य ने पद्य में लिखा है। दूसरे का नाम है 'शंकर-दिग्विजय' तथा अण्णा आनन्द गिरि ने उसकी रचना की है। यह दूसरी पुस्तक माधव की पुस्तक की अपेक्षा उत्तरकालीन है, यद्यपि कुछ लोगों ने भूल से इसे शंकर के खास शिष्य, प्रसिद्ध व्याख्याकार अण्णा आनन्द गिरि द्वारा लिखित बताया है। ये दोनों ही ग्रंथ अपनी प्राप्त जानकारी का आधार शंकर की एक खोई हुई जीवनी को बतलाते हैं, जिसके सम्बन्ध में परम्परा से यह धारणा

---

* टेम्पलर्स नाइट्स का संघ सन् १११८ ई० में और ट्यूटनिक नाइट्स का संघ सन् ११६० ई० में स्थापित हुआ।

चली आ रही है कि शंकर के एक विशिष्ट शिष्य ने उसकी रचना की। लगभग ८०० श्लोक, जो उक्त पुस्तक से उद्धृत बतलाये जाते हैं, माधव की पुस्तक पर धनपति सूरि की प्राचीन टीका में दिये गये हैं। अण्णा आनन्द गिरि की पुस्तक में कुछ अधिक श्लोक उद्धृत हैं। इस प्रकार शंकर के आधुनिक इतिहास-लेखक को श्रद्धालुतापूर्ण परम्परा द्वारा विकसित आख्यान-मात्र प्राप्त होता है। ऐसी परिस्थिति में उसे शंकर के कल्पित युग में भारतीय जगत् के सम्बन्ध में ज्ञात तथ्यों तथा सम्भावनाओं के प्रकाश में इन वर्णनों के विषय में अपनी धारणा निश्चित करनी चाहिए।

अनेक शताब्दियों के बीच में शंकर के नाम के चारों ओर जो अति प्राकृत आख्यान एकत्र हो गये हैं, उन्हें एक ओर छोड़कर हम जहाँ तक पुनर्निर्माण सम्भव है, उनके जीवन का ढाँचा उपस्थित करेंगे। शंकर और उनकी जीवन-घटनाओं के सुनिश्चित समय के सम्बन्ध में प्रश्न हो सकते हैं, लेकिन उनके समस्त उत्तरवर्ती युगों में भारतीय धर्म और दर्शन पर उनके गहरे प्रभाव के सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते। उनका संश्लेषण-जन्य अद्वैतवाद विशिष्ट दर्शन ही मानव-जाति के काम की वस्तु है। अतएव उनके दर्शन की व्याख्या तथा उनके धर्म-संगठन के वर्णन

के पूर्व उनके आख्यानमूलक जीवन की एक संक्षिप्त चर्चा यहाँ की जायगी :—

एक हजार वर्ष से अधिक हुआ, भारतीय प्रायद्वीप के धुर दक्षिण में केरल अथवा कोचीन प्रदेश के केलेदी नामक ग्राम में, पूर्णा नदी के तट के निकट विद्याधिराज नामक एक ब्राह्मण रहते थे। वे मुख्यतः विद्योपार्जन और उपासना में तल्लीन रहा करते थे। बात यह थी कि वह सारा का सारा ग्राम ही अग्रहार दान के रूप में एक ब्राह्मण उपनिवेश को, जो एक प्राचीन राजा राजशेखर (इन राजशेखर को 'कर्पूरमंजरी'-लेखक राजशेखर समझने की भूल न करनी चाहिए) द्वारा निर्मित शिवमंदिर के चारों ओर बस गया था, प्राप्त हो गया था। उक्त ब्राह्मण के विद्वान् पुत्र शिवगुरु और सत्वगुणमयी पुत्रवधू सती दोनों ही शिव के परम भक्त थे और उनकी कृपा से उन्हें एक आश्चर्यजनक सौन्दर्य और अलौकिक बौद्धिक शक्ति से सम्पन्न पुत्र की प्राप्ति हुई। बालक, जिसे शैशव ही में पितृवियोग का सामना करना पड़ा, पाँच वर्ष की अवस्था में गुरु के आश्रम में भेजा गया जहाँ उसने दो ही वर्ष में सम्पूर्ण हिन्दू शास्त्रों का उतना ज्ञान प्राप्त कर लिया जितना संग्रह करने में अन्य लोगों को साधारणतया सोलह वर्ष लगते हैं। अपनी माँ के सूने घर को लौटने पर इस असा-

धारण बालक ने शास्त्रों का अध्ययन आरम्भ कर दिया और उसकी आश्चर्यजनक प्रतिभा और विद्वत्ता से आकृष्ट होकर उसके पास आनेवाले छात्रों की भीड़ लगने लगी—यहाँ तक कि स्वयं स्थानीय राजा ने संस्कृत भाषा में लिखित अपने तीन नाटकों के संशोधन और परिमार्जन के निमित्त उसकी सहायता चाही। आठ वर्ष की अवस्था में वह बाल अध्यापक वैराग्य के भाव से आक्रान्त हो गया। संसार और उसके सुखों का त्याग करने की प्रबल उमंग उसमें उत्पन्न हो गई। उधर उसकी प्रेममयी माता उसके लिए उपयुक्त दुलहिन प्राप्त करके उसे गृहस्थ बनाने का आयोजन कर रही थी; लेकिन जिसे मानव जाति का उद्धार करना है उसके लिए घर तो कोई उपयुक्त स्थान है नहीं। उसने अपनी माता को समझाया-बुझाया कि वे उसे स्वतंत्र कर दें और अपने स्पष्ट भाग्य-विधान के अनुसार कार्य करने दें। उसने ब्रह्मचारी का वेश ग्रहण करके ब्रह्म-विद्या के एक आचार्य से संन्यास-सम्बन्धी नियमों और परिपाटियों के उद्देश्य से घर से प्रस्थान किया।

नर्मदा नदी के मध्य में ओंकार मान्धाता नामक पथरीले द्वीप में पहुँचकर शंकर ने प्रसिद्ध दार्शनिक गोविन्दपाद से दीक्षा ली। उन्हें लोग स्वयं प्राचीन महर्षि पतंजलि ही का रूप समझते थे। क्योंकि वे पास की एक

कंदरा में एक सहस्र वर्ष से यौगिक समाधि की अवस्था में थे। विधि-विधान द्वारा निश्चित अपने शिष्य और अपने दार्शनिक जीवन-कार्य के उत्तराधिकारी के आने पर महात्मा की योगनिद्रा टूटी। यहीं उनके तत्त्वावधान में रह कर शंकर ने योग के सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों ही विभागों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त किया। अंत में आचार्य ने उसे सम्बोधित करते हुए कहा कि मेरे पुत्र, मुझे तुम्हें और कुछ भी बताना शेष नहीं है। मैं जानता हूँ कि तुम साक्षात् शिव हो और ब्रह्मविद्या का ज्ञान वितरित करने के लिए मानव-रूप में संसार में आये हो।........ इस कार्य के लिए आवश्यक ज्ञान देकर मैंने तुम्हें योग्य बना दिया है और अब मैं अपने इस भौतिक शरीर का, जिसे मैंने इन सहस्र वर्षों तक केवल इसी उद्देश्य को सामने रखकर बचा रखा था, त्याग किये देता हूँ। यहीं शंकर को गोविंदपाद से संन्यास की दीक्षा मिली और उसने गेरुए वस्त्र धारण किये, जो हिन्दू संन्यासियों का बाहरी चिह्न है। तब काशी जाने की आज्ञा देकर तथा यह कहकर कि तुम्हारे प्रचार-कार्य के लिए सर्वोत्तम स्थान काशी है, जो समस्त हिन्दुओं का धार्मिक केन्द्र है, उन्होंने योगबल द्वारा स्वेच्छा से श्वासावरोध करके निर्वाण गति प्राप्त कर ली। 'योगेनान्ते तनुत्यजाम्' (कालिदास)।

काशी में शंकर द्वारा शास्त्रों की नवीन व्याख्या

ब्रह्मसूत्र पर उसकी सुबोध टीका और उनके जैसे इतने अल्पवयस्क अध्यापक द्वारा प्रदर्शित इतनी अलौकिक प्रतिभा ने भारत के समस्त भागों से वहाँ एकत्र विद्वानों और साधकों की मंडली में बड़ा भारी आश्चर्य उत्पन्न कर दिया। जिन पंडितों ने उसे शास्त्रार्थ के लिए ललकारा वे उसकी अद्‌भुत विद्वत्ता, तार्किक तीक्ष्णता और सरल व्याख्यान-शक्ति देखकर शान्त हो गये। काशी धाम में शंकर ने सनंदन नामक एक ब्राह्मण युवक को, जो चोल प्रदेश (पूर्वी कर्नाटक) में कावेरी तट का निवासी था, अपना प्रथम शिष्य बनाया। सच्चे गुरु की खोज में वह भ्रमण करता हुआ आया था और अन्तः-प्रेरणा से शंकर की ओर आकृष्ट हुआ। कई दिनों की परीक्षा के बाद वह अधिकारी समझा गया और शंकर ने उसे संन्यासी के रूप में दीक्षित किया। यही सनंदन पद्मपाद के नाम से महान् आचार्य का प्रथम धर्म-प्रचारक और आगे चलकर उनके धर्मशास्त्रीय लेखन और प्रचार-कार्य में उनका दाहना हाथ हुआ।

माधवकृत काव्यबद्ध जीवनचरित में एक मनोरंजक कहानी कही गई है। (सर्ग ६, श्लोक २५, ५१)। एक दिन काशी में गंगाजी को जाते समय शंकर को एक अन्त्यज

मिला। उन्होंने ऊँचे स्वर में उससे कहा—'दूर हो, मुझे अपने स्पर्श से अपवित्र न करो।' भंगी जान पड़नेवाले उस व्यक्ति ने कहा, 'मुझे अपने से पृथक् समझते हैं और फिर भी अपने अद्वैतवादी होने की घोषणा करते हैं और इस मत का प्रचार करते हैं कि सम्पूर्ण सृष्टि ब्रह्ममय है और भौतिक जगत् अस्तित्व-विहीन माया-मात्र है। अपने इस व्यवहार से आप यह स्वीकार करते हैं कि पवित्र और अपवित्र मनुष्य में बहुत बड़ा अन्तर है।' तर्क ने शंकर को निरुत्तर कर दिया। हतवाक् होकर वे उस अपरिचित व्यक्ति के सामने नत हो गये। तब तो वह अपना छद्म रूप त्याग कर देवदेव शिव उन्हें इस प्रकार वरदान देकर अन्तर्धान हो गये कि तुम संसार में अद्वैतवाद स्थापित करने में विजय प्राप्त करोगे।

काशी में शंकर के सामने इस प्रकार का एक अन्य रोचक प्रसंग उपस्थित हुआ। (माधव, सर्ग ७, श्लोक १, ५०) कहा जाता है कि एक दिन मूर्ख-से दिखनेवाले एक बूढ़े ब्राह्मण ने उनसे सम्भाषण किया। ये पवित्र वेदों और महाभारत महाकाव्य के रचयिता स्वयं व्यासदेव थे जो उनकी परीक्षा लेने आये थे। दोनों के विवाद का क्रम अत्यन्त रोचक रूप में चला है, किन्तु उसका रसास्वादन वे ही पाठक कर सकते हैं जो संस्कृत

व्याकरण और दर्शन में पारंगत हों। अन्त में अत्यन्त प्रसन्न होकर व्यासदेव अपने रूप में प्रकट हुए और यह आशीर्वाद देकर वहाँ से बिदा हुए :—

'मेरे वत्स, विधाता ने तुम्हें केवल आठ वर्ष की आयु दी, अपनी सुप्रतिभा के द्वारा तुमने आठ वर्ष और प्राप्त कर लिये और शिव के प्रसाद से तुम और भी सोलह वर्ष की आयु का भोग करोगे। इसके साथ ही मेरे ब्रह्मसूत्र पर तुम्हारा भाष्य तब तक अमर रहेगा जब तक आकाश में सूर्य-चन्द्रमा और तारे रहेंगे। इन सोलह वर्षों के भीतर, द्वैतवाद के समर्थकों के हृदय में अंकुरित अहङ्कार को निर्मूल करनेवाले अपने नित्य सावधान शब्दों द्वारा तुम अद्वैतवाद के विरोधियों को इस बात के लिए विवश कर दोगे कि वे सृष्टिकार और सृष्टि से पृथक् अस्तित्व भेद विद्या में अपने विश्वास का परित्याग कर दें।'

तदनन्तर शंकर को कुमारिल भट्ट से मिलने की प्रबल इच्छा हुई। ये प्रथम हिन्दू विद्वान् थे जिन्होंने प्रबल बौद्धदर्शन के विरोध में अपना सिर ऊँचा रखा था और वैदिक धर्म की महत्ता को फिर से स्थापित करने का उद्योग किया था। वे चोल देश के ब्राह्मण और प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति के पितृव्य थे।

शंकर वयोवृद्ध कुमारिल से प्रयाग में मिले। वे पूज्य विद्वान् मरणासन्न थे, किन्तु ब्रह्मसूत्र पर शंकर भाष्य पढ़कर वे बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने आशीर्वाद दिया और भविष्यवाणी की कि अद्वैतवाद के प्रचार में मुझे जितनी सफलता मिली है उससे कहीं अधिक शंकर को मिलेगी और वे विजय-पताका फहराते हुए देश के बहुत बड़े भाग में वेदान्तिक अद्वैतवाद की स्थापना कर सकेंगे। (माधव सप्तम सर्ग, श्लोक ६२ से अन्त तक)

तब कुमारिल ने अपने अंतिम श्वास के साथ जो आदेश दिया था उसके अनुसार शंकर नर्मदा-तट पर स्थित माहिष्मती में मंडन मिश्र से मिलने के लिए गये। इन मंडन मिश्र को कुमारिल अपना सर्वोत्तम शिष्य और प्रायः अपना द्वितीय रूप ही समझते थे। तत्कालीन यज्ञविधान तथा अन्य कर्मकाण्ड में वे परम पारंगत थे। सौभाग्य से सरस्वती (उपनाम उभय भारती) नाम की पत्नी उन्हें प्राप्त थी, जो ज्ञान के क्षेत्र में उनसे भी आगे थी और जिसे लोग सरस्वती देवी के साक्षात् अवतार रूप में ग्रहण करते थे। उसके पतिदेव और शंकर में जो धार्मिक शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ उसमें निर्णायक के पद पर प्रतिष्ठित होने की योग्यता उसी में थी।

कथा इस प्रकार है कि जब केरल देशवासी हमारे

नवयुवक मुंडित-शिर संन्यासी को मंडन मिश्र के विशाल भवन के द्वारपालों ने बहिष्कृत कर दिया तब उसने अलौकिक शक्तियों के प्रयोग द्वारा दीवाल लाँघकर बृहत् कक्ष में प्रवेश किया....जिससे ऐश्वर्यशाली मंडन को आश्चर्य और क्रोध दोनों हुआ; तब दोनों तत्त्ववेत्ताओं में वाग्युद्ध प्रारम्भ हुआ जिसका रसास्वादन संस्कृत भाषा से परिचय रखनेवाले सभी लोग कर सकते हैं। दोनों के इस संक्षिप्त प्रारम्भिक संघर्ष के भीतर, व्याकरण-सम्बन्धी तथा तात्त्विक वाद-विवाद के अनवरत अभ्यास द्वारा तीक्ष्ण हो जानेवाली दोनों की प्रतिद्वन्द्विनी वाणियों से निकलनेवाले शब्दों के श्लेषात्मक प्रयोग तार्किक आक्रमण और परिहार माधवकृत जीवनचरित्र के अष्टम सर्ग में दिये गये हैं। संस्कृत साहित्य में इस शास्त्रार्थ का अपूर्व स्थान है किन्तु इसके सम्यक् प्रभाव को क्षति पहुँचाये बिना इसका भाषान्तर नहीं किया जा सकता।

तब एक अविरत बौद्धिक संघर्ष चल पड़ा। लगातार अठारह दिन तक दोनों ने सरस्वती देवी को निर्णायक के पद पर प्रतिष्ठित रखकर शास्त्रार्थ किया। अन्त में शङ्कर के उच्च ज्ञान के सामने मंडन ने हार मानी। वे शंकर के शिष्य हो गये और ब्रह्मसूत्र पर शंकरकृत प्रसिद्ध भाष्य के सम्बन्ध में उन्होंने वार्त्तिक लिखना स्वीकार कर लिया।

इसी ग्रन्थ के द्वारा भारतीय ज्ञान-जगत् में बौद्ध तथा अन्य विरोधी मतों की तिरस्कृति और वेदान्त-सम्मत अद्वैतवाद की स्थापना होनी थी। मंडन ने सांसारिक जीवन को त्याग कर संन्यास ग्रहण कर लिया। उनकी पत्नी ने अपने पार्थिव शरीर का परित्याग कर दिया, क्योंकि संन्यासी के साथ स्त्री नहीं रह सकती। (अन्य आख्यान के अनुसार उन्हें शृंगेरी जाने और अपने जीवन के शेष दिन वहाँ के आश्रम में व्यतीत करने की अनुमति मिल गई थी) आख्यान इस प्रकार है :—

मंडन मिश्र पर सुदीर्घ काल में प्राप्त होनेवाली इस विजय के अनन्तर शंकर तत्कालीन विद्वज्जगत् की विजय के लिए निकले। यही उनकी प्रसिद्ध दिग्विजय थी अथवा बौद्धिक धरातल पर विश्व-साम्राज्य के लिए प्रमाण था, जिसमें उन्होंने बौद्धमत, जैनमत, तंत्रवाद तथा अद्वैतवाद-विरोधी प्रत्येक मत के समर्थकों को पराजित किया। उनके प्रचलित जीवनचरित्रों में ये ब्यौरे अनेक पृष्ठों में आये हैं। (सर्ग १४)

तब एक लम्बी तीर्थयात्रा के अन्त में (कर्नूल प्रान्त के नालमलाई जंगल के मध्य में) प्रायः दुर्गम गिरिशृंग श्रीशैलम्, पश्चिमी घाट पर गोकर्ण तथा अन्य प्रसिद्ध मन्दिरों के दर्शन के अनन्तर शंकर ने कुछ समय तक पश्चिमी

चालुक्य साम्राज्य में शृंगगिरि (शृंगेरी) नामक वन ग्राम में निवास किया। श्रिवेली नामक एक ब्राह्मण ग्राम में उन्हें एक प्रतिभाशाली बालक शिष्य प्राप्त हुआ जो बाद को हस्तामलक आचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। शृंगेरी में प्रकृति की निर्मल, प्रिय और एकान्त परिस्थिति में शंकर ने अपने प्रथम मठ की स्थापना की। शीघ्र ही वहाँ उनके प्रेमियों और भक्तों का एक उपनिवेश ही बस गया। उस देश के राजा और उनके पदाधिकारियों ने सब तरह की सहायता की। आगन्तुकों और भक्तों के निवास के लिए सैकड़ों की संख्या में कुटियाँ बनवा दी गई थीं जिससे वह स्थान शीघ्र ही ऋषि के तपोवन के रूप में विकसित हो गया। जिन स्थानीय भवनों का निर्माण हुआ उनमें शारदा देवी का मन्दिर प्रथम था। इसमें धर्म्मशास्त्रीय ज्ञान और दैनिक भक्ति-सम्बन्धी अनुष्ठानों के संयोग का संकेत था और यही शंकर के मत का प्रधान लक्ष्य तथा शिष्यों को अनवरत रूप से दिये जानेवाले उपदेश का विषय है।

पुस्तकों की रचना और अनुयायियों की शिक्षा में लगे रहकर शंकर ने शृंगेरी में अनेक वर्ष व्यतीत किये। यह उनका सबसे अधिक रचनात्मक समय था और उनकी इस काल की ज्ञानमयी रचनाएं सत्य की खोज करनेवालों

के विश्राम और शिक्षण के निमित्त प्राप्त स्थायी सम्पत्ति के रूप में चली आ रही हैं।

शंकर ने ऐसे तीन शिष्य पहले ही बना लिये थे जो उनके बाद नेतृत्व के लिए विधि-विधान द्वारा निर्दिष्ट थे। ये थे पद्मपाद, सुरेश्वर और हस्तामलक और अब उन्हें श्रृंगेरी में एक नवीन शिष्य, त्रोटक उर्फ आनंद गिरी आचार्य की प्राप्ति हुई, जो पहले गिरि कहे जाते थे।

इन चार शिष्यों ने अन्य शिष्यों के सहयोग से ज्ञानार्जन का एक महान मण्डल संगठित कर लिया तथा सरल, सुबोध और मनोहर शैली में शंकर की शिक्षाओं के प्रचारार्थ संस्कृत में अनेक ग्रंथों की रचना की। इस प्रकार श्रृंगेरी ईश्वरीय ज्ञान और हिन्दू विद्वत्ता की दृष्टि से सजीव निर्भरस्वरूप हो गया।

माता की अंतिम बीमारी में उनकी सेवा करने, क्रिया-कर्म तथा उनकी सम्पत्ति की व्यवस्था कर देने के उद्देश्य से शंकर श्रृंगेरी से अपने जन्म के गाँव में गये। केरल देश के राजा ने उनका बड़ा सम्मान किया और उनकी सम्मति से अपने राज्य तथा प्रजाजन की स्थिति में अनेक प्रकार की उन्नति करने की ओर ध्यान दिया। इसके अनन्तर शंकर की दूसरी दिग्विजय-यात्रा शुरू हुई। इस बार वे दक्षिण में कुमारी अन्तरीय की ओर गये

और इस यात्रा में जिस किसी भी सम्प्रदाय के समर्थकों से उनकी मुठभेड़ हुई वही धर्म और आराधना-सम्बन्धी उनकी धारणा के पक्ष में आ गया। कांजीवरम् में उन्होंने अनेक मन्दिरों की स्थापना की, जो कालान्तर में सम्पूर्ण भारत में प्रसिद्ध हिन्दू ज्ञान के केन्द्र हो गये। जगन्नाथ पुरी में बौद्ध मत की महत्ता को समाप्त करके उन्होंने अपने मत के द्वितीय अथवा पूर्वी केन्द्र के रूप में गोवर्द्धन मठ की स्थापना की। इसके अतिरिक्त जिन दो अन्य मठों की उन्होंने स्थापना की वे पश्चिम (काठियावाड़) में द्वारका-स्थित शारदा मठ और उत्तर (हिमालय) में केदारनाथ-स्थित जोशी मठ हैं।

परम्परा के अनुसार भारत और बृहत्तर भारत का कोई भाग, बल्ख से लेकर कम्बोडिया तक, ऐसा नहीं बचा जहाँ शंकर न गये हों। प्रत्येक स्थान में उन्होंने लोगों का धार्मिक संस्कार किया, अपने मत का प्रतिपादन किया और विद्याध्ययन के लिए पाठशालाएँ संस्थापित कीं। कृष्णगंगा और मधुमती के संगम पर स्थित तथा सात हिमाच्छादित पर्वतों से आवृत काश्मीर के शारदा मठ में भारतीय समस्त मतों के प्रतिनिधि रूप पंडितों ने एकत्र होकर उन्हें सर्वज्ञ की उपाधि दी। सरस्वती देवी ने भी इस दान के औचित्य की घोषणा की। (माधव सर्ग १६) अन्त

में मध्य हिमालय में बदरी-केदारनाथ की यात्रा करते हुए बत्तीस वर्ष के बाद उन्होंने अपने नश्वर शरीर को त्याग दिया। (माधव, सर्ग १६, श्लोक ९३ से अन्त तक)

श्रृंगेरी का मठ आठ मील लम्बे और छः मील चौड़े भूमि-खंड में स्थित है, जिसे मठ में सुरक्षित एक शिलालेख के अनुसार विजयनगर के प्रथम सम्राट् हरिहर ने सन् १३४६ में शैव मठ के अध्यक्ष को जागीर के रूप में दिया था। शिलालेख पर दानदाताओं में हरिहर के चार भाइयों—कम्पला, बुकला, नरधा और मुदधा का, हरिहर के जामाता वल्लधा दलब का तथा इनके पुत्र शावला का नाम अंकित है। वर्त्तमान समय में यह मैसूर राज्य के कोधा तालुके के अन्तर्गत है। तुंगभद्रा नदी इसमें होकर दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पूर्व को बहती है।

श्रृंगेरी ग्राम तुंगभद्रा नदी के वाम तट पर, कोधा कसबे से १५ मील दक्षिण-पश्चिम की ओर, उत्तर अक्षांश रेखा के १३. २५. और पूर्व देशान्तर रेखा के ७५. १९. पर स्थित है। श्रृंगेरी नाम श्रृंगगिरि अथवा ऋष्यश्रृंग-गिरि का अपभ्रंश है। यह वही स्थान है जहाँ विभांडक ऋषि ने तपस्या की थी और जहाँ वाल्मीकि रामायण के प्रसिद्ध पात्र ऋष्यश्रृंग का जन्म हुआ था। काश्मीर से लाई हुई शारदा माँ अथवा सरस्वती की

मूर्त्ति का आदेश पाकर शंकराचार्य वहीं ठहर गये। इस पुनीत ग्राम में १२० मन्दिर हैं।

शृंगेरी एक लम्बी सड़क पर बसा है जिसमें से एक ओर को एक शाखा फूट गई है। ऋषि शृंग नामक एक छोटा पर्वत, जिस पर मल्लिकार्जुन का मन्दिर है, इस ग्राम के द्वारा चारों ओर से आवृत है। सड़क के सिरे पर जगद्गुरु का मठ है, जिसमें शारदा माँ का मन्दिर है। कहा जाता है कि शारदा माँ की मूर्त्ति विशुद्ध स्वर्ण की बनी हुई है। मठ के पार्श्व में विद्या-शंकर का मन्दिर है जो एक ऊँचे टीले पर चालुक्य शैली में कलामय भवन है। बाहर की दीवार पर सब ओर भिन्न भिन्न देवताओं की मूर्त्तियाँ खुदी हुई हैं। सामनेवाले प्रवेशद्वार के दायें कोने पर शंखाकार टोपी, यज्ञोपवीत और धोती धारण किये हुए तथा अभय की स्थिति में दायाँ हाथ उठाये हुए व्यास की मूर्त्ति है। वे शंकराचार्य को, जिनकी मूर्त्ति उनकी मूर्त्ति के समकोण पर स्थित है, शिक्षा दे रहे हैं। शंकर के बायें हाथ में तालपत्र की पुस्तक है। तुंगा नदी के तट पर, विद्यारण्यपुर की ओर एक छोटा मन्दिर है जिसमें यति-रूप में स्थित शंकराचार्य की मूर्त्ति है। (मैसूर गैजेटीयर II ४०७, ४०९)

द्वितीय अध्याय

शंकराचार्य की तिथि

शंकराचार्य की तिथि के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद चला आ रहा है और यद्यपि सौ वर्ष बीतने को आ रहे हैं तथापि वह बना हुआ है। उनके जन्म-वर्ष के सम्बन्ध में मतभेद इतना विस्तृत है कि कोई उसे ४४ ई० पू० बताता है (यह मत आधुनिक उत्कृष्ट विद्वान् और महात्मा स्वामी प्रज्ञानन्द सरस्वती का है) और कोई सन् ७९८ ई० को उसके लिए निश्चित करता है। यह मत अध्यापक के० बी० पाठक का है और इसे उनके बाद मैक्स-मूलर तथा प्रायः समस्त आधुनिक विद्वानों ने स्वीकार कर लिया है। दोनों के मध्य में परमोत्कृष्ट बंगाली विद्वान् और पर्यटक श्री राजेन्द्रनाथ घोष का मत है जिन्होंने ईसवी सन् ६८६ को शंकर का जन्मवर्ष निश्चित किया है। ये महोदय बाद को स्वयं भी स्वामी चिद्घनानन्द नाम धारण करके दशनामी संन्यासी हो गये थे। उन्होंने स्वामी प्रज्ञानन्द के मत का अत्यन्त विस्तारपूर्वक प्रबल तर्कों और विशद आलोचनात्मक अध्ययन का अवलम्ब लेकर

खंडन किया है। अन्य लोगों को अन्य तिथियों पर, जिनमें के० टी० तैलंग का आनुमानिक ईसवी छठी शताब्दी का अंतिम अंश भी सम्मिलित है, विचार करना अनावश्यक है। क्योंकि आधुनिक इंडोलॉजीशास्त्र तैलंग के लिखने के समय से अब तक के भीतर काफी प्रगति कर गया है और उसके सहारे शंकर के समय के सम्बन्ध में हम विश्वसनीय आधार पर खड़े हो सकते हैं और पूर्ण यथार्थता के साथ उनके जीवन को समय के एक छोटे घेरे के भीतर ला सकते हैं। हमारी कठिनाई के दो कारण हैं: १ शंकराचार्य का कोई ऐसा जीवनचरित्र सुरक्षित नहीं है जो उनके निधन के कम से कम छः शताब्दियों बाद लिखा गया हो। २. शंकर के प्रथम आश्रम शृंगेरी मठ में किसी प्रकार के प्रामाणिक ऐतिहासिक कागज-पत्र सुरक्षित नहीं किये गये।

पहले जीवनचरित्र ही को लीजिए। शंकर के प्राचीन-तम जीवनचरित्र दो संस्कृत ग्रंथ हैं—(अ) माधवाचार्य कृत शंकर-जय, (आ) आनन्द गिरि-कृत शंकरदिग्विजय।

अब इस सम्बन्ध में विद्वानों की सहमति है कि ये माधव और चौदहवीं शताब्दी में विजयनगर साम्राज्य की स्थापना में सहायता करनेवाले प्रसिद्ध विद्यानन्द एक ही व्यक्ति नहीं थे। माधव अधिक उत्तरकालीन और अपेक्षाकृत

साधारण विद्वान् थे। उनकी यह भी सम्मति है कि द्वितीय चरित्रकार आनन्द गिरि, जो अपने ही ग्रंथ में अपने को अनन्त आनन्द गिरि लिखते हैं, शंकर के व्यक्तिगत शिष्य, प्रसिद्ध भाष्यकार आनन्द गिरि नहीं थे, बल्कि पन्द्रहवीं शताब्दी के कोई ब्राह्मण विद्वान् थे। शंकर के अन्य जीवनचरित्र इनकी अपेक्षा भी अधिक उत्तरकालीन हैं।

शंकर के इन दो प्राचीनतम जीवनचरित्र-लेखकों ने अपने ग्रंथ-निर्माण के लिए किन प्राचीन कागज-पत्रों का उपयोग किया? एक का भी नहीं। उन्होंने प्रचलित लोक-परम्परा से प्राप्त बातों को केवल लिपिबद्ध कर दिया। कहने की आवश्यकता नहीं कि छः शताब्दियों से अधिक समय तक लिपिबद्ध किये बिना, मौखिक परम्परा से प्राप्त विवरण में सैकड़ों ही ऐतिहासिक प्रमादों का प्रवेश हो सकता है। माधव का कहना है कि उन्होंने अपने संक्षेप शंकर-जय को एक पूर्वतर ग्रंथ से प्राप्त सामग्री पर आधारित किया है। सच बात यह है कि मैं प्राचीन शंकर-जय के सारांश ही का यहाँ संग्रह कर रहा हूँ; लेकिन वे इस प्राचीन आधार से कहीं भी उद्धरण नहीं देते और न हमें यही बताते हैं कि उस जीवनचरित्र को किसने लिखा और कब लिखा। धनपति सूरि ने माधव-कृत जीवनचरित्र पर जो भाष्य लिखा है उसमें प्राचीन खोये हुए

शङ्कर-विजय जीवनचरित्र से सम्बन्धित बताये जानेवाले छः सौ श्लोक उद्धृत हैं और अनन्त आनन्द गिरि की पुस्तक में इससे कुछ अधिक उद्धृत हैं लेकिन उनसे हमें अधिक ऐतिहासिक जानकारी नहीं प्राप्त होती और न उनकी प्रामाणिकता ही सन्देह से मुक्त है।

दूसरी बात यह है कि शंकर से लेकर नीचे तक के गुरुओं की उत्तराधिकार-सूची, जो वर्त्तमान समय में दर्शकों को दिखाई जाती है, तत्कालीन महन्त नरसिंह भारती अष्टम द्वारा ईसवी सन् १८७५ के लगभग तैयार कराई गई थी। अगले महन्त के कार्य-काल में (सन् १८७८-१९१२ ईसवी) जब श्री आर० एन० घोष उक्त मठ में गये तो महन्त जी ने इस प्रकार कहा "आधुनिक पुरातत्त्ववेत्ताओं की सम्मति से मेरे गुरु ने यह सूची तैयार कराई थी" जिसमें शंकर का जन्मकाल चौदहवीं विक्रमी संवत् दिया गया है और उनके प्रथम उत्तराधिकारी मठ के अध्यक्ष रूप में ८०० वर्षों तक जीवित रहकर सन् ७५७ ई० में दिवंगत बतलाये गये हैं। आप इसे सत्य मानें अथवा मिथ्या, जैसी इच्छा। (बंगला ९ DJ खंड १ पृष्ठ ९८)

अब विचारणीय बात यह है कि इस उत्तराधिकार-सूची में किसी भी महन्त की आठ शताब्दियों की अतिमानव आयु नहीं बतलाई गई है। प्रायः सब

(केवल एक को छोड़कर) साधारण मनुष्यों की तरह पचासी वर्ष या उससे भी बहुत कम आयु के रहे हैं। कुछ आधुनिक लेखकों ने सुरेश्वर के इस अविश्वसनीय सुदीर्घ जीवन के रहस्य की व्याख्या इस सिद्धान्त के प्रतिपादन द्वारा की है कि सुरेश्वर का शरीरान्त तो हुआ सत्तर या अस्सी वर्ष ही की साधारण आयु में; किन्तु प्राचीन कागज-पत्रों के नष्ट हो जाने से सन् ७५७ ई० तक के समस्त उत्तराधिकारियों के नाम लुप्त हो गये हैं, जिससे सन् ७५८ ईसवी में कार्यारूढ़ होनेवाले महन्त ही सुरेश्वर के प्रथम उत्तराधिकारी बता दिये गये हैं। इस पक्षग्रहण से ही सन् ७५७ ई० के पूर्व के नामों की समूची सूची निकम्मी सिद्ध हो जाती है। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व का कोई कागज-पत्र शृंगेरी मठ में सुरक्षित नहीं रखा गया है और नामों की यह सूची अधिक से अधिक तेरहवीं शताब्दी से आगे तक के लिए प्रामाणिक रूप में स्वीकार की जा सकती है; किन्तु तेरहवीं शताब्दी से पूर्व के लिए नहीं।

आर० एन० घोष ने एक सुयुक्तिपूर्ण मत प्रस्तुत किया। वह यह है कि शंकर का कथित जन्म-वर्ष, विक्रमी संवत् का तीसवाँ वर्ष, उज्जैन के विक्रमादित्य के नाम पर ईसा के ५७ वर्ष पूर्व चलाये जानेवाले विक्रमी संवत्

का तीसवाँ वर्ष नहीं है, बल्कि चालुक्य राजवंश के प्रथम विक्रमाङ्क के राज्यकाल का तीसवाँ वर्ष है। इस प्रकार शंकर का जन्म-वर्ष सन् ७०० ई० के समकक्ष हो जायगा।

इसी प्रकार विद्वानों ने शिलालेख-विद्या, भाषा और इतिहास-सम्बन्धी कारणों के आधार पर शृंगेरी में दिखाये जानेवाले उस शिलालेख को आधुनिक कालीन कृति कहकर अस्वीकृत कर दिया है जिसमें शंकराचार्य ईसा से पूर्ववर्त्ती बताये गये हैं। केवल यह बात कि किसी ताम्रपत्र पर संस्कृत अथवा कनाडी भाषा में कोई शिलालेख पाया गया है, उसे प्रामाणिक सामग्री नहीं बना देती और न उससे यही प्रमाणित होता है कि शिलालेख ठीक उसी समय लिखा गया जो उसमें अंकित है। महाराज हर्ष के समय के एक प्रामाणिक शिलालेख से हमें ज्ञात होता है कि जाली ताम्रपत्र (कूटशासन) उनके समय में अप्रचलित नहीं थे। (सातवीं शती ईसवी)

ऐसी अवस्था में शंकर के काल-निर्णय के सम्बन्ध में हम उनकी रचनाओं के अंतःसाक्ष्य तथा उनके प्रति किये गये औरों के तिथिपरक हवालों ही पर निर्भर रह जाते हैं। सौभाग्य से भारत के अतिरिक्त तिब्बत, चीन और

कम्बोडिया में होनेवाले आधुनिक खोज-कार्य ने उनके सम्बन्ध में विश्वसनीय पार्श्व प्रकाश प्रदान किया है। यहाँ हम उसकी चर्चा करेंगे।

शंकर अपने दोनों प्राचीनतम जीवनचरित्रों के अनुसार कुमारिल भट्ट से मिले थे, जो वृद्ध पुरुष थे और उनसे बड़े थे। अब अन्य आधारों से हम यह जानते हैं कि कुमारिल निश्चित रूप से सन् ६५० ई० के आसपास मौजूद थे और भर्तृहरि के परवर्त्ती थे, जिनके श्लोक उन्होंने तंत्रवार्त्तिक नामक अपने ग्रंथ में उद्धृत किये हैं।

दूसरी बात यह है कि उक्त प्रमाणों ही के अनुसार तरुण शंकर ने गोविन्द यति से दीक्षा पाई थी, जिनके गुरु गौड़पाद थे। इन गौड़पाद के भाष्य का अनुवाद चीनी भाषा में सन ५७०, ६०० ई० के लगभग हुआ, यह हमें ज्ञात है।

तीसरी बात यह है कि इन दो परम्परा-लेखकों में से एक माधव का कहना है कि शंकर के युग में प्रसिद्ध कवि बाणभट्ट, मयूर और दंडी मौजूद थे और हमें यह ज्ञात है कि बाणभट्ट सातवीं शती के पूर्वार्द्ध में हुए हैं।

परम्परा-सम्बन्धी बातों का महत्त्व संदिग्ध होने के कारण उन्हें अलग छोड़ कर हमें अब शंकर ही की रचनाओं की परीक्षा करनी चाहिए और देखना चाहिए कि अपने

युग पर वे क्या प्रकाश डालती हैं। अपने 'ब्रह्मसूत्र' भाष्य में शंकर ने दिगंग की 'आलम्बन परीक्षा' से उद्धरण दिये हैं। दिगंग सन् ५५०, ६०० ईसवी में हुए हैं। स्वयं शंकर के शिष्य सुरेश्वर और आनन्द गिरि प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्त्ति से उद्धरण देते हैं। ये धर्मकीर्त्ति सन् ६४० और ६६० के मध्य में हुए हैं। क्योंकि एक ओर इत्सिंग उन्हें आधुनिक काल का प्रसिद्ध पुरुष बताता है, दूसरी ओर इत्सिंग की अपेक्षा पूर्व ही सन् ६३९ में भारत से चला जानेवाला युआनच्वांग उनका नाम ही नहीं लेता। दूसरे, शंकर ने अपने भाष्य में पूर्णवर्मा नामक एक राजा की चर्चा की है और इस नाम का एक राजा मगध में सन् ५९० और ६३० ई० के बीच हुआ है। सन् ६२९ और ६८२ के बीच युआनच्वांग और इत्सिंग ने भारत में यात्रा की थी और उन्होंने उस समय के जीवित अथवा कुछ समय पूर्व दिवंगत समस्त महान् बौद्ध विद्वानों और उनके हिन्दू विरोधियों की चर्चा की है। इन दोनों ही यात्रियों को शंकर का नाम और यश अज्ञात था।

यह तो अन्तःसाक्ष्य की बात हुई। इसके अतिरिक्त सन् ६८८ और ७८८ ईसवी के बीच में शंकराचार्य की जन्म-सम्बन्धी तिथि का भारत में बौद्ध मत तथा इस

देश के धार्मिक विचार में परिवर्त्तन-क्रम के ज्ञात इतिहास के साथ सामञ्जस्य हो जाता है। विद्वान् इतिहासवेत्ता तारानाथ और वास्सलीफ के आधार पर लिखते हुए कर्न का कहना है "छठी और सातवीं शताब्दी में बौद्ध विद्वत्ता अपनी उत्कृष्टता के शिखर को पहुँच गई थी.... कुल मिला कर बौद्ध मत तब भी उन्नत अवस्था में था, जब युआनच्वांग भारत में आया था। (सन् ६३०, ६४३ ई०) मोटे तौर पर पतन सन् ७५० ई० से शुरू हुआ। बौद्धों की परम्परा में कुमारिल और शंकर उनके मत के अत्यन्त भयानक प्रतिद्वन्द्वियों के रूप में दो ऐसे तार्किक हैं जिनकी कार्यशीलता ने भारत में बौद्ध मत का संहार कर दिया।"

अन्त में जब हम ऐसे संस्कृत कवियों और गद्य-लेखकों की रचनाओं को सामने रखकर शंकर की रचनाओं के शब्दों और शैली का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं, जिनकी तिथियों का हमें ज्ञान है तब यह निर्विवाद रूप से स्पष्ट हो जाता है कि शंकर ने कालिदास और भर्तृहरि के बाद किन्तु उस शाब्दिक तर्क और प्रथानुगत काव्य के विकास के पहले लिखा जो दसवीं शताब्दी और उसके उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य में विशेष रूप से प्रवेश कर गया था। अतएव, भारत में संस्कृत भाषा और साहित्य के

ज्ञात विकास-क्रम के साथ ईसवी आठवीं या नवीं शताब्दी में शंकर के स्थान का सामंजस्य हो जाता है।

शंकर-काल के उक्त विवेचन में प्रधान रूप से निम्न-लिखित प्रामाणिक सामग्रियों का उपयोग किया गया है: अँगरेजी में (१) आई० एन० त्रैमासिक पत्र में महामहोपाध्याय वी० एस० शास्त्री का लेख (खंड ६, पृष्ठ १६९ और खंड ९ पृष्ठ ९७९)। संस्कृत में (२) माधव-कृत शंकर-दिग्विजय, तृतीय संस्करण १९३२) के० आनन्दाश्रम, पूना, संस्करण में पी० जी० रानाडे लिखित भूमिका)। (३) गुरुनाथ वेंकटेश किद्‌दूर-कृत श्री शंकर-विजय चूर्णिका (निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १८९८)। मराठी में (४) गुसाईं पृथ्वी गिरि हरि गिरि कृत 'गोसाईं और त्याचा सम्प्रदाय' खण्ड १, (१९२६) पृ० २१६—२२८। बँगला में सबसे अधिक मूल्यवान् और ज्ञातव्य बातों से पूर्ण आधार है (५) स्वामी प्रज्ञानन्द सरस्वती का 'वेदान्त-दर्शनेर इतिहास' खण्ड १, जिसका सम्पादन राजेन्द्रनाथ घोष ने किया है, साथ ही जिसकी उन्होंने आलोचना भी की है (१९२५) खंड १ पृ० ९०, १४६, (६) आर० एन० घोष-कृत शंकर और रामानुज।

इनके पूर्व श्री सी० एन० कृष्णस्वामी अय्यरकृत शंकराचार्य, उनका जीवन और उनकी शिक्षाएँ (चतुर्थ

संस्करण मद्रास) नामक ग्रंथ ने विद्वानों के मतों को संक्षिप्त रूप में उपस्थित कर दिया था। समस्त पूर्ववर्ती और अब अल्पाधिक मात्रा में अप्रचलित सामग्री, जो इस प्रश्न के सम्बन्ध में प्राप्त है, तिरस्कृत कर दी गई है।

हमारी खोज के सिलसिले में यह बड़े सौभाग्य की बात है कि हमें एक ऐसे व्यक्ति का लेख भी उपलब्ध है जिसने शंकराचार्य की अधीनता में शिक्षा ग्रहण की थी और जिसने सन् ८७८, और ८८७ ईसवी के मध्य में किसी वर्ष अपने जीवन-काल में ही एक शिलालेख तैयार कराकर उसमें इसका उल्लेख कर दिया था। इस शिलालेख का पता फ्रांसीसियों ने लगाया है और प्रसिद्ध विद्वान् जी० कोइडीज ने अपने इंस्क्रिप्शन्स डू केम्बोज खण्ड १, (१९३७) पृ० ३७ में इसे संसार के लिए सुलभ किया है। डाक्टर आर० सी० मजूमदार ने (इंडियन रिव्यू १९४० में) एक लेख द्वारा हमें इससे परिचित कराया है।

कम्बोडिया (इंडोचाइना) में 'लिखित कंदोल दोम' नाम से प्रसिद्ध मन्दिर के एक स्तम्भ पर संस्कृत श्लोकों में एक शिलालेख है जिसमें कहा गया है कि भद्रेश्वर नामक शिवमूर्त्ति कम्बोज के राजा इन्द्रवर्म्मा के गुरु शिवसोम नामक पंडित द्वारा सन् ८७८ और ८८७ ई० के मध्य में स्थापित की गई। इन शिवसोम की विद्वत्ता और

पवित्रता का वर्णन करनेवाले श्लोकों में एक श्लोक है, (संख्या ३९) जिसमें कहा गया है कि उन्होंने शास्त्रों को स्वयं भगवान् रूप शंकर से पढ़ा था,* जिनके चरण-कमलों पर, मँडरानेवाले भ्रमरों की तरह, आकर बड़े बड़े विद्वानों के शिर नत होते थे।

इससे प्रमाणित होता है कि शंकराचार्य नवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जीवित थे और शिक्षा दे रहे थे और हिन्दू जगत् के समस्त मार्गों से विद्वान् लोग उनकी विद्वत्ता और पवित्रता से आकृष्ट होकर उनके पास आते थे।

'जगद्गुरु-परम्परास्तोत्र'† जिसका पाठ अब भी शृंगेरी मठ में होता है, शंकर की इस जन्मतिथि का समर्थन करता है। उसके अनुसार शंकर युधिष्ठिर सं० ३८८९, शालिवाहनीय शक संवत् ७१०, ईसवी सन् ७८८ में उत्पन्न हुए थे।

---

* कम्बोडिया का संस्कृत शिलालेख :
  येनाधीतानि शास्त्राणि भगवच्छंकराह्वयात्।
  निश्शेषसूरिमूर्द्धालिशालिलीढांघ्रिपंकजात्॥

† निधिनागेभवह्न्यब्दे (३८८९) विभवे मासि माधवे।
  शुक्ले तिथौ दशम्यां तु शङ्करार्योदयः स्मृतः॥

तृतीय अध्याय

शंकराचार्य के उपदेश

शंकराचार्य की महत्ता को रामकृष्ण-विवेकानन्द संघ की बहन निवेदिता ने निम्नलिखित वाक्यों में सर्वोत्तम रीति से व्यक्ति किया है—पाश्चात्य देशों के लोग शंकराचार्य जैसे व्यक्त से व्यक्तित्व की कल्पना नहीं कर सकते। थोड़े से वर्षों के भीतर दस महान् धार्मिक संघों के संस्थापकों की नामावली प्रस्तुत कर देना, एक पृथक् दर्शन निर्माण करने तथा भारतीय विद्वानों की कल्पना पर अपनी छाप छोड़ने की क्षमता देनेवाली इतनी अधिक संस्कृत ज्ञान-राशि सम्पादित करना—इसमें इतना उच्च महत्त्व है कि बारह सौ वर्ष भी उसे हिलाने में समर्थ नहीं हुए हैं। ऐसे काव्य लिखना जिनकी गरिमा विदेशी और असंस्कृत श्रवणों को भी उन्हें स्पष्ट बना देती है और साथ ही साथ आनन्द और उल्लास से पूर्ण प्रेम तथा महात्माओं के सरलतापूर्ण करुण भाव से समन्वित होकर अपने शिष्यों के साथ जीवन व्यतीत करना, यह ऐसी महत्ता है जिसकी हम सराहना तो कर सकते हैं किन्तु जिसे हम समझ नहीं सकते। असीसी के फ्रांसिस की भक्ति, एबलार्ड की बौद्धिकता, मार्टिन लूथर की प्रखर शक्ति और स्वतंत्रता तथा इग्नेशियस लोयोला की राज-

नैतिक उत्कृष्टता पर चिन्तन करते हुए हम आश्चर्य और आह्लाद में मग्न हो जाते हैं, किन्तु एक ही व्यक्ति में ये सब विशेषताएँ एकत्र दिखाई पड़ें, ऐसी कल्पना कौन कर सकता है ?

शंकर का दर्शन अद्वैतवाद अथवा एकेश्वरवाद के सिद्धान्त-रूप में प्रसिद्ध है। संक्षेप में उनका मत था कि जड़ पदार्थ अथवा सृष्टि रूप यह ब्रह्माण्ड केवल माया है; क्योंकि मूल सत्तास्वरूप रचनात्मक मन (आत्मा अथवा ब्रह्म) से पृथक् उसका कोई अस्तित्व नहीं है। इस व्यापक आत्मा का प्रत्येक मनुष्य, अन्य समस्त प्राणियों और जड़ पदार्थों में निवास है। ऐसी अवस्था में अपना पृथक् अस्तित्व, व्यक्तित्व अथवा व्यक्तिगत अस्तित्व, अहंकार, बहुत बड़ा अज्ञान है और सबसे बड़ा साधु अथवा सन्त वह है जिसने सतत चिन्तन और विशुद्ध आचरण द्वारा इस सत्य का अनुभव कर लिया है कि वह अन्य जीवों से किसी प्रकार भिन्न नहीं है, वह उस सर्वव्यापक आत्मा का केवल मूर्त्ति स्वरूप है जिसका हम सबके भीतर वास है। "अहं ब्रह्म, अहं शिवः"।

भारतीय दर्शन सम्बन्धी प्रत्येक पुस्तक में शंकर की दार्शनिक पद्धति की विस्तृत व्याख्याएँ मिलेंगी और यह पुस्तक उसे दुहराने के लिए उचित स्थान नहीं है।

किन्तु यह सिद्ध करने के उद्देश्य से कि शंकर का मत किसी प्रकार का स्वप्निल सर्वेश्वरवाद नहीं था, मैं उन रचनाओं से कुछ उद्धरण, स्वयं अनुवाद करके दे रहा हूँ जिनसे प्रकट हो जायगा कि वे विशुद्ध आचरण अथवा पवित्र जीवन के ऊँचे मापदण्ड के सम्बन्ध में उतने ही आग्रहशील हैं जितना संसार का कोई भी धार्मिक सम्प्रदाय, जो प्रकाश में आया है। जिस स्थूल प्रणाली का मैं अवलम्बन कर रहा हूँ उससे अधिक से अधिक अदार्शनिक पाठक को भी यह विषय बोधगम्य हो जायगा।

अनुवाद

कौन तेरी पत्नी है और कौन तेरा पुत्र ? यह संसार एक विचित्र स्थान है। भाई, इस प्रश्न पर थोड़ा सा विचार करो कि 'तुम किसके हो और कहाँ से आये हो ?' अपने धन, अपने सेवकों अथवा अपने यौवन का अभिमान मत करो, आँखों के देखते देखते काल सब कुछ लूट ले जाता है।*

---

*अनेक शताब्दियों बाद एक अँगरेज कवि ने अनजान में इसके अनुकरण के ढँग पर लिखा। वंशावली का अभिमान, शक्ति की धूमधाम और वह सब जिसे सौन्दर्य ने, वह सब जिसे धन ने कभी भी प्रदान किया उस घड़ी की प्रतीक्षा में हैं जो अनिवार्य है कीर्ति और यश की राहें अन्त में अनन्त विश्राम की जगह समाधि मन्दिर ही को पहुँचाती हैं। (ग्रे०

मिथ्या जड़ जगत् का त्याग करके ज्ञान द्वारा पर-ब्रह्म में प्रवेश करो। मानव-जीवन कमल-पत्र पर कम्पित जल-बिन्दु की तरह , सत्संग द्वारा ही, वह थोड़ी ही देर के लिए क्यों न हो, हम संसार-समुद्र के उस पार जा सकते हैं।

रात के बाद दिन आता है, संध्या प्रभात का अनुगमन करती है, शरद और वसन्त ऋतु नियमित रूप से एक दूसरे का अनुसरण करती है। क्रीड़ाशील काल चला जा रहा है, जीवन का क्षय होता चल रहा है और फिर भी मनुष्य अपनी तूफानी आशाओं का त्याग नहीं करेगा। उसके अंग जर्जर हो रहे हैं, सिर श्वेत हो गया है, मुँह में दाँत नहीं रह गये हैं, हाथ की छड़ी काँप रही है किन्तु फिर भी वह अपनी निरर्थक वासनाओं के थैले को अपने पास से अलग नहीं करेगा।

क्या तुम शीघ्र ही विष्णुत्व को प्राप्त होना चाहते हो? तो सबके प्रति एक ही भाव रखो। मित्र और शत्रु, पुत्र और मित्र के प्रति प्रेम और घृणा के रूप में भेद-भाव न करो। विष्णु तुममें विद्यमान है, मुझमें और अन्य समस्त मनुष्यों में विद्यमान है। तो फिर क्यों तुम मुझसे क्रुद्ध होकर अपना धीरज खोते हो? और सबके आत्मा को अपने भीतर विद्यमान देखो। वैयक्तिक व्यक्तित्व के

अन्दर की भावना का प्रत्येक स्थान में त्याग करो। काम, क्रोध, लोभ और मोह पर विजय प्राप्त करके अपने भीतर आत्मा को पहचानो। तुम कौन हो, इसे अनुभव करो। वे मूर्ख, जिन्होंने आत्म-ज्ञान नहीं प्राप्त किया है, अत्यन्त निम्न कोटि के नरक में सड़ेंगे। (मोहमुद्गर)

कौन बन्धन में है ? वह जो पार्थिव वस्तुओं के प्रति आसक्त है।

मोक्ष क्या है ? पार्थिव वस्तुओं के प्रति कामना पर विजय।

सबसे अधिक अन्धकारमय नरक कौन है ? तुम्हारा ही शरीर।

स्वर्ग क्या है ? मनोविकारों का सम्यक् निवारण।

कौन जागता है ? वह मनुष्य जिसकी अन्तरात्मा सदसद्विवेक से सम्पन्न है।

तुम्हारा शत्रु कौन है ? तुम्हारी पंचेन्द्रियाँ। अपने मनोविकारों पर विजय प्राप्त करो और तुम्हारी इन्द्रियाँ तुम्हारी मित्र बन जायँगी।

सबसे उत्कृष्ट अलंकार क्या है ? नैतिक चरित्र।

सबसे पवित्र तीर्थस्थान कौन है ? तुम्हारा ही मन, जब वह शुद्ध अवस्था में हो।

कौन वस्तुएँ घृणा के योग्य हैं ? स्त्रियाँ और सोना ।

हमें निरन्तर क्या सुनना चाहिए ? अपने धार्मिक शिक्षकों की सम्मति और धर्मग्रन्थों की शिक्षाएँ ।

हम ईश्वर को किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं ? सत्संग, दान, सद्विवेक और सन्तोष के द्वारा ।

—मणिरत्नमाला

सचमुच वे सन्त धन्य हैं जिनका सम्पूर्ण वस्त्र उनका कौपीन मात्र है ।

कौपीनधारी निस्सन्देह धन्य हैं, जो पेड़ों के नीचे सोते हैं, जिनके हाथ आहार एकत्र करने के लिए नहीं नियुक्त होते और जो लक्ष्मी को प्राचीन जर्जर रजाई की तरह ठुकरा देते हैं ।

वे ही धन्य हैं जिनके हृदय के विकार नियंत्रित और शान्त हो गये हैं और जो उनके सहज आनन्द में परम शान्ति प्राप्त करते हैं तथा परम तत्त्व के साक्षात्कार का रसास्वादन करते हैं ।

सचमुच वे ही धन्य कहे जा सकते हैं जो निरंतर (विश्वात्मा) ब्रह्म-नामोच्चारण करते हैं । जो "अहं ब्रह्मास्मि" का चिन्तन करते हैं और जो भिक्षा-रूप में प्राप्त आहार पर निर्वाह करते हुए चारों स्थानों में भ्रमण करते हैं । (कौपीन-पंचक)

"वत्स, तू कौन है ? किसका पुत्र है ? तू किस ओर जा रहा है ? तेरा क्या नाम है ? तू कहाँ से आया है ? मुझे स्पष्ट रूप से बता।

न मैं मनुष्य हूँ, न देवता हूँ, न प्रेत हूँ। मैं वर्ण से न ब्राह्मण हूँ, न क्षत्रिय, न वैश्य या शूद्र हूँ। न मैं ब्रह्मचारी विद्यार्थी हूँ, न गृहस्थ हूँ, न वनवासी हूँ, न गृहहीन संन्यासी हूँ। मेरा कोई आश्रम नहीं है। मैं स्वयं चेतन आत्मा हूँ। मैं अनन्त बोधक्षम आत्मा हूँ। मैं आकाश की तरह अपरिमित हूँ और समस्त भेदभाव उत्पन्न करनेवाली उपाधियों से मुक्त हूँ। मैं मन और इन्द्रियों की कार्यशीलता का कारण हूँ।"

मैं वह अनन्त ज्ञान-सम्पन्न आत्मा हूँ जो समस्त वस्तुओं में निहित है, यद्यपि कोई वस्तु उसका स्पर्श नहीं कर सकती। मैं आकाश की तरह सदैव शुद्ध और निर्मल हूँ। जैसे विशुद्ध स्फटिक पाषाण उन पदार्थों के रंग को ग्रहण कर लेता है जिनमें वह जड़ा जाता है वैसे ही भिन्न भिन्न मनों में व्यक्तित्व की अनेकरूपता की कल्पना प्रस्तुत होती है : आत्मा द्वारा प्रभावित सबमें एक तत्त्व का उन्हें भान नहीं होता। ....(हस्तामलक)।

मैं न शरीर हूँ और न इंद्रियों का अंग-विशेष हूँ। मैं न वैयक्तिकता की, न जीवन की न बुद्धि की चेतना

हूँ। स्त्री और पुत्र तथा भूमि और धन से दूर, मैं वैयक्तिक आत्मा में मग्न अनन्त साक्षी रूप हूँ, मैं शिव हूँ।

जैसे अज्ञानी रस्सी को साँप समझने की गलती करता है वैसे ही मानव-समाज सर्वव्यापी आत्मा को जीव-मात्र समझ लेने के भ्रम में पड़ता है। वह, जिसे ईश्वर-ज्ञान का सच्चा प्रकाश प्राप्त है, इस माया, भ्रम से मुक्त हो जाता है। उसे अनुभव हो जाता है कि मैं जीव नहीं हूँ, मैं शिव (व्यापक आत्मा) हूँ।

संसार मुझसे पृथक् अन्य कोई वस्तु नहीं है। जो अगणित वस्तुएँ हम अपने से बाहर देखते हैं वे चित्त-भ्रम की उत्पत्ति-मात्र हैं। उनका कोई यथार्थ अस्तित्व नहीं है : जैसे वे रूप निस्सार होते हैं जिनका निर्माण दर्पण के प्रतिबिम्ब-परावर्त्तन द्वारा होता है। समस्त वस्तुएँ अपने आपको मुझमें, एक अद्वैत में व्यक्त करती हैं। अतएव मैं शिव हूँ।

मैं शरीर नहीं हूँ तो मेरा जीवन या मरण कैसे हो सकता है ? मैं जीवन नहीं हूँ तो फिर मुझे भूख या प्यास कैसे लग सकती है ? मैं हृदय नहीं हूँ तो फिर मुझे शोक या मूर्च्छा का अनुभव कैसे हो सकता है ? मैं कर्मशील नहीं हूँ तो फिर बंधन अथवा मोक्ष का विषय कैसे हो सकता हूँ ?

मैं सखाहीन हूँ, इसमें कोई सन्देह नहीं। मैं अपने को सत् चित आनन्द रूप में व्यक्त करता हूँ। मैं वह हूँ जो परिवर्तन-रहित, (अर्थात् ब्रह्म) है।

मैं अनन्त काल से विशुद्ध और अनासक्त हूँ। मैं अरूप हूँ, अमर्त्य हूँ, मैं अपने को ब्रह्मानन्द रूप में व्यक्त करता हूँ। मैं वह "मैं" हूँ जो पूर्ण अर्थात् ब्रह्म है।

मैं विशुद्ध चेतना हूँ। मैं आत्मक्रीड़ा में रत आत्मा हूँ। मैं अविभक्त आनन्द हूँ। मैं अपने को अपने ही द्वारा प्रकट करता हूँ। मेरा निर्माण एकमात्र चित् से हुआ है। मैं परम आत्मा हूँ। मैं सदैव अचल हूँ।

मैं अनाम हूँ, अरूप हूँ, चेतना में मैं ज्ञात हूँ। मैं वह "मैं" हूँ जो परिवर्तन-रहित, अमर्त्य है, जो आनन्द में व्यक्त होता है।

मैं विकास से परे हूँ, कर्म से परे हूँ, मैं सर्वात्मा हूँ, अनन्त हूँ, मरण-रहित हूँ। (ब्रह्मनामावली-माला)

मृत्तिका से घट का निर्माण होता है, अतएव मृत्तिका से स्वतंत्र घट का कोई जीवन नहीं है। ऐसी अवस्था में घट पारिभाषिक नाममात्र रह जाता है। मूलतः ब्रह्म ही सत् है। इसलिए ब्रह्म की कृति भी सत् है, क्योंकि रचना अपने रचयिता (ब्रह्म) से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं रखती।

जो इस सत्य को नहीं मानता उसका चित्त भ्रान्ति

में मग्न है और वह उस मनुष्य की तरह बात करता है जो स्वप्न देख रहा है।

निरन्तर वेदों का स्वाध्याय करो। उनमें निर्दिष्ट अनुष्ठानों का अभ्यास करो और इस प्रकार अपने आत्मा के भीतर परमात्मा के अस्तित्व का अनुभव करो। सुख की समस्त इच्छाओं को त्याग दो, अपने पापों को धो डालो, पार्थिव आमोद-प्रमोद की क्षणिकता का अनुसंधान कर लो, आत्मज्ञान संचय के लिए सचेष्ट बनो और शीघ्र ही अपने गृह से बाहर निकल आओ। यहाँ 'गृह' से शरीर का आशय है और गृह से बाहर निकलने का अर्थ है शरीर और उसके भीतर निवास करनेवाले आत्मा के भेद को हृदयंगम कर लेना।

सत्संग करो; अपनी अविचल भक्ति को ईश्वर की ओर लगाओ; मन की शान्ति, अहंकार-त्याग का भाव, आत्म नियंत्रण, संयम का विकास करने में लग जाओ। जो यथार्थ में ज्ञानी है उसकी पूजा करो। प्रतिदिन एक शब्द 'ओम्' का उच्चारण करके ब्रह्म-प्राप्ति के लिए प्रार्थना करो और वेदान्त-शिक्षा के वास्तविक भाव को ग्रहण करो।

आनन्दपूर्वक किसी एकान्त स्थान में निवास करो, सदा के लिए अपने हृदय को परब्रह्म पर नियोजित कर

दो, संसार के प्रति अपना भाव ऐसा कर दो कि तुम्हें इस सत्य का अनुभव हो जाय कि सूक्ष्म सर्वव्यापी परमात्मा सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है, इस रूप में तुम ब्रह्म-सिद्धान्त में निवास करो। (साधनापञ्चक)

शंकर और अन्य दार्शनिक

"कुमारिल ने प्राचीन वैदिक अनुष्ठानों का समर्थन किया। मीमांसा-पद्धति का अनुसरण करते हुए उन्होंने विश्व को ईश्वरीय रचना-कार्य बताया और संसार के अस्तित्व, स्थिति तथा संहार के लिए एक सर्वशक्तिशाली ईश्वर की कल्पना को ग्रहण कर लिया। इस साकार ब्रह्म द्वैत के अभावपूर्वक एकमात्र सत् और व्यापक आत्मा के सिद्धान्त ही में बौद्धों के विरुद्ध दार्शनिक तत्त्व निहित है। शंकराचार्य ने उत्तर-मीमांसा अथवा वेदान्त-दर्शन को उसके नवीन रूप में ढाला तथा राष्ट्रीय धर्म के रूप में उसका प्रचार किया और तब से प्रत्येक नवीन हिन्दू सम्प्रदाय को साकार ब्रह्म को लेकर चलना पड़ा है।

शंकराचार्य की शिक्षा थी कि एक ही परम ब्रह्म है जो प्राचीन ब्रह्म की त्रयी से तथा आधुनिक सर्व-देव-वाद से स्पष्ट रूप से भिन्न है। विश्व के नियामक की आराधना यज्ञों से नहीं बल्कि चिन्तन-भाव और सत्य के द्वारा करनी चाहिए

लेकिन शंकर ने अनुभव किया कि इस प्रकार का मत थोड़े ही लोगों के लिए हो सकता है। उन लोगों के लिए जो इस ऊँची ईश्वर-भावना तक नहीं पहुँच सकते थे, उन्होंने वेदविहित अथवा उत्तरकालीन सनातन धर्म के आचार्यों-द्वारा अनुमोदित सब प्रकार के अनुष्ठानों की अनुमति दे दी, ईश्वर के किसी भी रूप से सम्बन्ध रखनेवाले वे क्यों न हों। लेकिन एक विशेष अर्थ में शंकर शिवाराधना के प्रवर्त्तक हैं। वह उनकी शिक्षा के लोकप्रिय अंग का प्रतिनिधित्व करती है और उनके अनुयायियों के भक्ति-भाव ने उन्हें ऊँचा उठाकर शिव के अवतार रूप ही में ग्रहण कर लिया है।

वैष्णव मंदिरों के आडम्बरों को देखते हुए शिवाराधना की सरलता और गम्भीरता से स्पष्ट विषय तुलना प्रस्तुत होती है। रुद्र और शिव की आराधना ही वैदिक ऋषियों के समय से ब्राह्मणों का विशेष अनुष्ठान रहा है। शंकराचार्य और उनके उत्तराधिकारियों ने इसी को लोकाराधना के लिए स्वीकार कर लिया। शंकराचार्य की शिक्षा ने भारत भर में इसे विशेष प्रोत्साहन दे दिया और उनके अनुयायियों तथा उत्तराधिकारी आचार्यों के हाथ में पड़कर शिवाराधना भारत के दो प्रधान धार्मिक सम्प्रदायों में से एक हो गई। संहारक

और पुनर्निर्माता के रूप में शिव गम्भीर दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिनिधि हुए और बहुत पहले ही से ब्राह्मणों ने उन्हें आदिदेव के रूप में स्वीकार किया। उनके लिए वे जीवन-परिवर्तन-मात्र के रूप में आनेवाली मृत्यु के प्रतीक हो गये। इस प्रकार वे उच्च और निम्न सभी वर्णों के लिए आराध्य देव हो गये।

शैव सम्मदाय का नीति-विधान असत्य बोलने, मत्स्य, प्याज, लहसुन आदि वर्जित खाद्य को ग्रहण करने तथा चोरी और व्यभिचार करने को घोर पाप और समाज के विरुद्ध अपराध घोषित करता है। शैव मतानुयायियों को अहंकार, क्रोध और काम के त्याग की भी शिक्षा दी गई है। प्रत्येक जीवितात्मा ब्रह्म से अभिन्न है इस कारण प्राणि-मात्र का जीवन हरण अत्यन्त वर्जित है। जब तक मनुष्य को सर्वोच्च ज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान न हो जाय तब तक वेद-विहित अनुष्ठान का आचरण करना उसके लिए अनिवार्य है। निराकार ब्रह्म की ठीक धारणा प्राप्त करने के उद्देश्य ही से किसी प्रकट स्वरूप से सम्पन्न देवता-विशेष की पूजा के लिए आग्रह किया गया है। (केम्पवेल-कृत बम्बई गजेटियर खंड २, भाग १ पृ० ५३३, ५४२)

दो अन्य प्रसिद्ध महात्माओं की पद्धतियों से, इसकी भिन्नता के निम्नलिखित उदाहरणों से, सर्वसाधारण को

शंकर का दर्शन और भी अधिक स्पष्टता के साथ समझ में आ जायगा।

रामानुजियों का सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत कहा जाता है अर्थात् आरोप-समन्वित एकत्व अथवा भिन्नतापूर्वक अद्वैत। इस मत के अनुसार ब्रह्म अथवा विष्णु जीवात्मा चित् और प्रकृति अचित से सम्बन्धित साकार ब्रह्म है, जैसे शरीर से आत्मा सम्बन्धित है और जीवात्माएँ आपस में एक दूसरे से और ईश्वर से भिन्न हैं। रामानुजी नारायण-रूप विष्णु की पूजा करते हैं।

रामानुज के एक अनुयायी रामानन्द ने रामानन्दी अथवा रामावत सम्प्रदाय की स्थापना की। एक साधारण बात पर मतभेद होने के कारण उन्होंने ऐसा किया। यह बात थी कि भोजन तैयार करने और ग्रहण करने के सम्बन्ध में एकान्त रक्षा का आग्रह जिसके लिए रामानुज का विशेष आग्रह था। रामानन्द राम, सीता और लक्ष्मण रूप विष्णु की पूजा करते थे। उनका तिलक भी रामानुजियों का सा और गोपीचन्दन का बना होता है। रामानन्दी साधुओं के एक विभाग में, जिसे संजोगी कहते हैं, विवाह की भी अनुमति प्राप्त है लेकिन नागा अथवा नग्न कहे जानेवाले विभाग के लिए वह वर्जित है।

उनके प्रधान नैतिक सिद्धान्त दया, दान और धार्मिक जीवन हैं।

प्रसिद्ध वल्लभाचार्य सम्प्रदाय शंकराचार्य के शुद्धाद्वैत और रामानुज के विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का अनुयायी है। इसके मतानुसार ईश्वर अनन्त होने पर भी स्वर्गीय रूप से युक्त है और सम्पूर्ण दृश्य जगत् उसकी इच्छा से उससे उत्पन्न होता है। इसमें जीवात्मा परमात्मा का एक अंश माना जाता है, जो रूप में पृथक् होने पर भी सार की दृष्टि से अभिन्न होता है। इस नवीन मत में उपास्य देवता के प्रति प्रेम की प्रधानता होती है और गोलोक में यही प्रेम परमानन्द माना जाता है तथा उस परम प्रीति से कृष्णोपासना द्वारा प्राप्त हो सकता है जो नारी में अपने प्रियतम के लिए होती है।

शंकर और रामानुज के मतों की विषमताएँ

१—शंकर के अनुसार ईश्वर ही सत्य है और जगत् मिथ्या है, अर्थात् आँखों के सामने प्रकट होता है, किन्तु उसका कोई अस्तितत्व नहीं है। जीवात्मा ब्रह्म से भिन्न नहीं है और मोक्ष प्राप्त करके ब्रह्म ही में परिणत हो जाता है। उस अवस्था में दोनों में कोई भेद नहीं रह जाता।

दूसरी ओर रामानुज का कहना है कि ईश्वर जगत

और जीव सभी सत्य है, अंतिम दोनों ब्रह्म के शरीर (अथवा बाह्य स्वरूप) हैं। जगत् और जीव मोक्ष-प्राप्ति के अनन्तर ब्रह्म में परिणत नहीं होते—वे ब्रह्म में निवास करते हैं।

२—शंकर का मत है कि विश्व ईश्वर की माया का परिणाम है और इसी माया के सम्बन्ध से जीव अस्तित्व प्राप्त करते हैं।

३—शंकर के दर्शन में एक ब्रह्म के ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है। रामानुज की पद्धति में मोक्ष ईश्वर की कृपा से मिलता है और इसलिए ईश्वर ज्ञान आराधना का अंग-मात्र है, उसका सम्पूर्ण और अंतिम लक्ष्य नहीं है जैसा कि शंकर का सिद्धान्त है।

४—शंकर परब्रह्म को एक द्वैतभाव से रहित जीव-गत विभिन्नता और गुणों के आरोप से शून्य मानते हैं। रामानुज भी ब्रह्म को एक अद्वैत मानते हैं; किन्तु साथ ही वे उसमें सविशेष गुण का आरोप भी करते हैं।

५—शंकर ब्रह्मा, विष्णु, शिव और शक्ति (शिव की नारीरूप शक्ति) को माया के संसर्ग से उत्पन्न ब्रह्म के विभिन्न स्वरूप मानते हैं और घोषित करते हैं कि ये समस्त देवता आराधक के अधिकार-भेद के अनुसार

समान रूप से पूजा के पात्र हैं। किन्तु रामानुज एकमात्र विष्णु को आराधना का पात्र बतलाते हैं।

६—शंकर का कहना है कि हमारी भ्रान्ति से उत्पन्न पदार्थ वर्णनातीत हैं और वे हमारे भ्रान्तिकाल में अविद्या से जन्म ग्रहण करते हैं।

रामानुज का मत है कि हमारी भ्रान्ति से उत्पन्न पदार्थों का अस्तित्व है। उदाहरण के लिए हम सीप में चाँदी की भ्रान्ति करते हैं, क्योंकि सीप में वास्तव में चाँदी का एकाध छोटा कण रहता है अथवा दूसरे शब्दों में पूर्ण भ्रान्ति जैसी कोई चीज नहीं है। 'भ्रान्ति' शब्द का यह सुविधापूर्ण प्रयोग-मात्र है।

७—शंकर का पक्ष यह है कि सृष्टि मूलतः ब्रह्म ही है। अतएव ईश्वर अपने को सत्, चित् और आनन्द रूप में व्यक्त करता है। अविद्या और जीव में अविद्या का प्रभाव दोनों ही जीव के चित्त में केवल ब्रह्म की छाया का प्रतिनिधित्व करते हैं।

किन्तु रामानन्द चिन्मय ब्रह्म को सृष्टि से पृथक् मानते हैं और उनका मत है कि जीव के मुक्ति-लाभ के अनन्तर भी यह पार्थक्य समाप्त नहीं होता, क्योंकि तब भी जीव को परमात्मा की तरह निर्माण की शक्ति नहीं प्राप्त होगी।

८—शंकर के मत में माया, अविद्या, अज्ञान अभिन्न हैं और ब्रह्म पर आधारित हैं। रामानुज यहाँ भिन्नता का आरोप करते हैं, वह यह कि माया और अविद्या निर्माता की शक्ति को व्यक्त करती है लेकिन अज्ञान का सम्बन्ध जीव से है जिसे वह बंधन में डाल देता है।

९—जीव के शरीर धारण करते हुए भी शंकर उसकी मुक्ति को संभव मानते हैं लेकिन रामानुज के अनुसार जब तक जीव शरीर में है, मुक्ति असम्भव है।

१०—शंकर के अनुसार सच्ची मुक्ति निर्वाण है अर्थात् जीव का परब्रह्म में पूर्ण रूप से आत्मसात् (विलीन) हो जाना है। इसका आशय विष्णु का वैकुण्ठ अथवा शिव का कैलाश धाम प्राप्त करना नहीं है जो स्वर्ग, आनन्द के लोक-मात्र हैं। लेकिन रामानुज का मत है कि परम मुक्ति वैकुण्ठ-प्राप्ति ही में निहित है और निर्वाण के रूप में मुक्ति असम्भव है और इसकी भावना ही आत्म-संहार की धारणा है।

११—शंकर का मत है कि वेदान्त हमें गुणातीत ब्रह्म की ओर ले चलता है, जिसे हम निषेधात्मक शब्दों के प्रयोग द्वारा ही जान सकते हैं (अर्थात् जो वह नहीं है, अथवा किस प्रकार वह सृष्टि की समस्त ज्ञात वस्तुओं से भिन्न है, उसका वर्णन करने से।) लेकिन

रामानुज का कहना है कि वेदान्त हमें ऐसे ब्रह्म की शिक्षा देता है जिसकी आराधना उसमें आरोपित गुणों के मार्ग ही से की जानी चाहिए।

१२—शंकर के अनुसार चार प्रकार के साधन प्राप्त कर लेने पर मनुष्य वेदान्त का अधिकारी हो सकता है। किन्तु रामानुज के अनुसार सात साधनों की सिद्धि इसके लिए आवश्यक है।

शंकर का मत है कि समस्त वैदिक अनुष्ठानों से विरत रहकर भी यदि किसी ने वेदों और उपनिषदों का अध्ययन कर लिया है, साथ ही चार साधनों को भी सिद्ध कर लिया है तो वह वेदान्त का अधिकारी हो सकता है; लेकिन रामानुज का आग्रह है कि वेदान्त का अधिकारी होने के पूर्व मनुष्य को वैदिक क्रिया कर्म के साथ छः साधनों का सम्पादन अवश्य कर लेना चाहिए। शंकर के दर्शन में संन्यास अनिवार्यतः आवश्यक है। रामानुज के दर्शन में यह महत्त्व वैदिक अनुष्ठान को प्राप्त है और दोनों ही एक दूसरे के इस अनिवार्य आग्रह का लोप कर देते हैं। रामानुज की शेष पद्धति शंकर की पद्धति में अन्तर्निहित है।

शंकर के अनुसार संन्यासी सर्वोत्तम आध्यात्मिक आचार्य है और अन्य आश्रमों से सम्बन्ध रखनेवाले लोग,

(उदाहरण के लिए गृहस्थ) आध्यात्मिक विकास की निम्नतर श्रेणियों ही तक पहुँच सकते हैं; लेकिन रामानुज का मत है कि समाज के भीतर सभी आश्रमों के लोग प्रथम श्रेणी की आध्यात्मिकता के अधिकारी हो सकते हैं।

१३—शंकर का सृष्टि-सम्बन्धी सिद्धान्त

सृष्टि सत्व, रजस्, तमस् इन तीन गुणों की विशेषता से युक्त माया से उत्पन्न हुई है। वे वास्तव में गुण नहीं हैं बल्कि ब्रह्म को बाँधनेवाली एक रस्सी की तरह हैं। ब्रह्म से सम्बन्धित होने पर माया का परिणाम यह विश्व है। यह माया अविद्या, अज्ञान, प्रकृति, अव्यक्त आदि विभिन्न नामों से भी प्रसिद्ध है। अविद्या (अर्थात् अपने शरीर में व्यक्ति के रूप में मुझ निवास करनेवाले के पृथक् अस्तित्व) से आकाश की, आकाश से वायु की, वायु से अग्नि की, अग्नि से जल की और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई है। इन पाँचों तत्त्वों के सम्मिलित सत्त्वगुण से मनुष्य के चित्त का निर्माण हुआ है जिसमें बोध, बुद्धि, हृदय और व्यक्तित्व की अनुभूति है।

१४—शंकर की शिक्षा है कि जब व्यक्ति को यह बोध या ज्ञान हो जाता है कि मैं ब्रह्म से अभिन्न हूँ तब उसे मुक्ति प्राप्त होती है। आराधना और अनुष्ठानादि

केवल हृदय को शुद्ध करते हैं। इससे कुछ आचार्य मुक्ति की ओर अपनी प्रगति के सम्बन्ध में आराधना और अनुष्ठानादि की आवश्यकता से परे हैं।

रामानुज का मत है कि मुक्ति भक्तिपूर्वक धार्मिक आराधना से तथा प्रपत्ति के रूप में ईश्वर-कृपा के प्रति आत्म-समर्पण से प्राप्त हो सकती है। ज्ञान और आराधना दोनों ही आवश्यक हैं, क्योंकि ईश्वर-ज्ञान आराधना का अंग है।

१५—शंकर के अनुसार जब कोई व्यक्ति 'जीवन-मुक्ति' की अवस्था को प्राप्त होता है तब वह अपने शरीर को बनाये रखता है लेकिन जब उसे परम मुक्ति उपलब्ध होती है तब वह अपने शरीर का परिहार कर देता है। किन्तु रामानुज के अनुसार परम मुक्ति के अनन्तर मनुष्य अपना सूक्ष्म शरीर बनाये रखता है जिसमें वह अर्थात् उसका जीवात्मा वैकुंठ में जीवन का भोग करता है।

१६—शंकर और रामानुज दोनों ही ज्ञान को स्वयं-प्रकाश्य और स्वतःसिद्ध मानते हैं। दोनों ही वेद को अंतिम प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं।

———

चतुर्थ अध्याय

दस संघ अथवा दसनामी

शंकराचार्य ने जिन पुस्तकों की रचना की है और जो संन्यासी-संघ उन्हें अपना प्रवर्त्तक बताते हैं उनके द्वारा उनका इच्छित जीवन-कार्य अब तक चला जा रहा है और जब तक जीवन दर्शन के रूप में हिन्दू मत पृथ्वी पर बना रहेगा तब तक चलता चलेगा। किन्तु यह संभव नहीं जान पड़ता कि इन संघों का संगठन उन्हींने किया। उनका जीवन-काल इतना संक्षिप्त था और वह भी यात्रा, विवाद, व्याख्यान और लेखन-कार्य से इतना भरा था कि एक नवीन और निरन्तर वृद्धिशील धार्मिक समाज के सहस्रों व्यवस्था-सम्बन्धी ब्यौरों और दैनिक समस्याओं की ओर ध्यान देने के लिए अवकाश नहीं मिल सकता था। शंकर दशनामी संघों के वास्तविक निर्माता न होकर उनके प्रेरक अधिक मात्रा में थे, यह मत अधिक युक्ति-युक्त होगा। विद्वान् दशनामी इस कार्य का श्रेय सुरेश्वराचार्य को देते हैं जो शृंगेरी मठ में शंकराचार्य के उत्तराधिकारी महन्तों में तीसरे थे।

शंकर और उनके शिष्यों ने यह किया कि वैदिक युग अथवा उसके और पहले से भारत में असंगठित तथा छिटके पड़े व्यक्तियों के रूप में चले आनेवाले साधुओं को एक केन्द्रिक शक्ति के नियमित नियंत्रण और अनुशासन में रख दिया। यह कोई सरल कार्य नहीं था और न समाज के हित-साधन में इसका महत्त्व समझाने की आवश्यकता है।

संन्यास अथवा कर्मशील जगत् को त्याग कर गृहहीन, भ्रमणशील, धार्मिक भिक्षुक-जीवन की स्वीकृति का अनुष्ठान तब से चला आ रहा है जब से पुरातन मानव के अन्तरतम में ईश्वर-भावना का अरुणोदय हुआ। प्राचीनतम वेद में भी हम जटाधारी मुनि को गेरुए चीर धारण किये हुए पाते हैं जिनकी उपमा आकाश-स्थित सूर्य से दी जाती है। (ऋग्वेद ८,१७,५९;१०,१३६) ज्यों ज्यों भारतीय आर्यों के इस समाज ने प्रगति की त्यों त्यों भ्रमणशील साधु-जीवन सच्चे ब्राह्मण के जीवन में नियमित रूप से चतुर्थ अथवा अंतिम आश्रम माना जाने लगा। मनुस्मृति का छठा खण्ड, सारा का सारा, साधु-जीवन के मार्ग-दर्शनार्थ नियमावली ही से सम्बन्ध रखता है। "बूढ़े पुरुष देवऋण और पितृऋण से उद्धार पाकर मृत्यु के पूर्व पवित्रता-प्राप्ति के उद्देश्य से संन्यास ग्रहण करते थे।"—(पूस्सिन)

लेकिन पहले पहले अनेक शताब्दियों तक इस स्वाभाविक संवेग का परिणाम अनियंत्रित व्यक्तिवाद की वृद्धि के रूप में दृष्टिगोचर हुआ।

ए० एस० गेडेन लिखते हैं—"भारत में गूढ़ ज्ञानवाद ने साहचर्य की उपेक्षा की है। बौद्ध अथवा ख्रिष्टीय साधुवाद से भारतीय साधुवाद ऐतिहासिक रूप में एक अन्य दृष्टि से भिन्न रहा है और वह है केन्द्रिक नियन्त्रण अथवा नियमन का अभाव, नियत निवास और नियत व्यवसाय भारतीय संन्यासी अथवा साधु का आदर्श न है और न कभी रहा है। उसे इच्छानुसार भ्रमण करने, तीर्थस्थानों और मंदिरों का दर्शन करने और अपने जीवन तथा समय को चाहे जिस ओर लगाने की स्वतंत्रता रही है"।

पद्धति और अनुशासन के इस अभाव में संशोधन की आवश्यकता थी और यह संशोधन जैन और बौद्ध के द्वारा आया।

इस सम्बन्ध में महान् फ्रांसीसी विद्वान् डी लावेल पूस्सिन लिखता है—"ईसा के पूर्व आठवीं अथवा छठी शताब्दी में अनेक धार्मिक नेताओं ने विचरण-विशिष्ट संन्यासी-जीवन को नियमित स्वरूप दिया। उनमें से जो सर्वोत्तम थे उनका नैतिक आदर्श ऊँचा था और बौद्धिक

लक्ष्यबिन्दु भी ऊँचा था। वे मोक्षमार्ग का उपदेश करते थे और इसी ऊँचे उद्देश्य के अनुसार प्रायश्चित्त तथा आनन्दमूलक अनुष्ठानों की नियोजना करते थे। वे बड़े संगठन करनेवाले और महान् पुरुष भी थे। उन्होंने जिन भ्रातृसंघों की स्थापना की वे सजीव और सुदृढ़ संस्थाएँ हो गईं, साथ ही स्वयं वे नये सम्प्रदायों के देवता बन गये।

धार्मिक नेताओं का कार्य, संक्षेप में, साधु-संन्यासियों को एक निश्चित जीवन-नियम के नियंत्रण में लाना और तप तथा योग को आध्यात्मिक महत्त्व प्रदान करना था। उनके द्वारा स्थापित संन्यासाश्रमों में जहाँ अभी तक मनमाने ढंग से चलनेवाले संन्यासी को अब एक सुव्यवस्थित संस्था का सदस्य बनना, शिक्षा-दीक्षा लेना तथा अनुभवी लोगों के अथवा किसी नियत नियम के नियंत्रण में आना पड़ता है वहाँ आध्यात्मिक प्रगति के लिए दार्शनिक भी बनना पड़ता है।"

यहाँ जो उद्धरण दिया गया है उसमें डी० ला० वेली पूसिन महावीर और बुद्ध के सम्बन्ध में चर्चा कर रहे हैं। लेकिन मेरे पाठक शीघ्र ही अनुभव करेंगे कि उनके ये शब्द शंकर पर भी पूर्णतया लागू होते हैं और इन वाक्यों में उनके चरित्र और महत्त्व का यथार्थ वर्णन कर रहे हैं।

"वे महान् संगठन करनेवाले और महान् पुरुष भी थे।"
"वे नये सम्प्रदायों के देवता हो गये।"

शैव सम्प्रदाय के अद्वैत मत की दस शाखाएँ, जिन्हें शंकराचार्य ने संगठित (अथवा जैसा कि औरों का मत है, पुनरुज्जीवित) किया, 'दस नाम' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन संघों में दीक्षा के अनन्तर संन्यासियों द्वारा जो नाम ग्रहण किये जाते हैं उनके साथ जोड़े जानेवाले दस शब्दों से 'दस नाम' का प्रचलन हुआ है जिसको 'योगपट्ट' कहा जाता है। ये शब्द हैं गिरि, पुरी, भारती, बन, अरण्य, पर्वत, सागर, तीर्थ, आश्रम और सरस्वती।

परम्परा—शंकर के उन चार पट्टशिष्यों के नामों के सम्बन्ध में एक-मत नहीं है, जिन्हें उन्होंने भारत के चार महत्त्वपूर्ण स्थानों में स्थापित अपने चार महान् मठों का प्रथम अधिकारी बनाया। ये चारों महत्त्वपूर्ण स्थान निम्नलिखित हैं—

१. दक्षिण—शृंगेरी मठ, अधिकारी पृथ्वीधर आचार्य (लोक-प्रसिद्ध नाम हस्तामलक)। इस मठ से पुरी, भारती और सरस्वती शाखाएँ सम्बद्ध हैं।
२. पूर्व—जगन्नाथपुरी का गोवर्द्धन मठ, अधिकारी पद्मपाद आचार्य (पूर्वनाम सनन्दन)। बन और अरण्य संघ इस केन्द्र से सम्बद्ध हैं।

३. उत्तर—बदरी-केदारनाथ, हिमालय में स्थित जोशी मठ, अधिकारी त्रोटकाचार्य (पूर्वनाम आनन्द गिरि)। इससे गिरि, पर्वत और सागर संघ सम्बद्ध हैं।

४. पश्चिम—द्वारका-स्थित शारदा मठ, अधिकारी स्वरूपाचार्य। तीर्थ और आश्रम शाखाएँ इस मठ को सौंपी गई हैं।

इन चारों महान् केन्द्रों का स्वरूप और अधिकार-क्षेत्र भी यहाँ बता देना उचित होगा।

१. शृंगेरी, अधिकार-क्षेत्र—आन्ध्र, द्रविड़, करनाटक, केरल और महाराष्ट्र देश। यजुर्वेद मान्य। नवदीक्षित ब्रह्मचारी अपने नामों के साथ चैतन्य की उपाधि लगाते हैं। सिद्धान्त 'अहम् ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ। सम्बद्ध शाखाएँ पुरी, भारती और सरस्वती । (पूर्ण दीक्षित गोस्वामियों को दिये जानेवाले नामों के साथ ये उपाधियाँ जोड़ दी जाती हैं।) भूरिवार सम्प्रदाय, मन्दिर (क्षेत्र) रामेश्वर।

२. गोवर्द्धन, अधिकार-क्षेत्र—अंग, वंग, कलिंग, मगध, उत्कल और बर्बर। ऋग्वेद मान्य। नवदीक्षित ब्रह्मचारी अपने नामों के साथ प्रकाश उपाधि जोड़ते हैं। सिद्धान्त 'प्रज्ञानं ब्रह्म' अर्थात् ब्रह्म पूर्ण ज्ञान है। सम्बद्ध

शाखाएँ बन और अरण्य। ये उपाधियाँ गोस्वामी लोग दीक्षित होने पर प्राप्त करते हैं। भोगवार सम्प्रदाय मंदिर (क्षेत्र) जगन्नाथ पुरी।

३. जोशी (अथवा ज्योतिर्) अधिकार-क्षेत्र—कुरु, पंचाल अर्थात् दिल्ली, पंजाब, काश्मीर, कम्बोज, आर्यावर्त आदि। अथर्व वेद मान्य। नवदीक्षित ब्रह्मचारी आनन्द की उपाधि ग्रहण करते हैं। सिद्धान्त 'अयमात्मा ब्रह्म' अर्थात् 'यह आत्मा ही ब्रह्म है।' सम्बन्धित शाखाएँ गिरि, पर्वत और सागर। आनन्द वार सम्प्रदाय। मन्दिर बदरिकाश्रम। यह मठ फिर दसनामी गोसाईं के अधिकार में आ गया है। वर्त्तमान महन्त स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती हैं। श्री सिंह बदरी के सेवोपजीवी चिरकाल से गया-स्थित नातूचेटी मठ की अधीनता में तंजौर प्रान्त के स्मार्त्त ब्राह्मण लोग रहे हैं।

४. शारदा, अधिकार-क्षेत्र—सिंधु, सौवीर, सौराष्ट्र, राजपूताना और पश्चिमी भारत और काठियावाड़ तथा सिन्धु। सामवेद मान्य। नवदीक्षित ब्रह्मचारी को 'स्वरूप' की उपाधि दी जाती है। सिद्धान्त 'तत्त्वमसि' अर्थात् 'तुम वह हो'। सम्बन्धित शाखाएँ तीर्थ और आश्रम कीटवार विभाग, मन्दिर द्वारका।

शाखाएँ। दसनामी संघों के चारों महान् मठों ने पिछली अनेक शताब्दियों के भीतर संगठन और सम्बद्धता के सम्बन्ध में कुछ निश्चित नियम स्वीकृत कर लिये हैं। संन्यासी को चाहिए कि सबसे पहले वह अपने को किसी मढ़ी (गोत्र) में नामांकित करावे। मढ़ी को मोटे तौर पर प्रवेश अथवा दीक्षाकेन्द्र समझना चाहिए। मठ केवल एक ही नाम का और मढ़ी का होता है, इसी से अखाड़े में दसनाम के और बावन मढ़ियाँ रहने से ये पंचायती दसनामी कहलाते हैं।

सम्पूर्ण मढ़ियों की संख्या ५२ है। उनका वितरण प्रारम्भ में इस प्रकार था—गिरि के अधिकार में २७, पुरी के अधिकार में १६, भारती के अधिकार में ४, बन के अधिकार में ४ और १ लामा के अधिकार में।

दस नामों में तीर्थ, आश्रम, सरस्वती और भारती के आधे दंडी कहलाते हैं; शेष साढ़े छः संघ गोसाईं कहलाने के अधिकारी हैं।

मढ़ियों के यथार्थ नामों के सम्बन्ध में कुछ अंतर पाया जाता है। नीचे जो सूची दी जाती है वह निर्वाणी अखाड़ा द्वारा स्वीकृत है।

५२ मढ़ियों की सूची

(अ) गिरि, आनन्द वार सम्पदाय, मढ़ी २७—मेघनाथ पंथी।

१. रामदत्ती, २. दुर्गानाथी, ३. ऋद्धनाथी, ४. ब्रह्मनाथी (छोटे), ५. पाटम्बरनाथी, ६. बलभद्रनाथी, ७. छोटे ज्ञाननाथी, ८. बड़े ज्ञाननाथी, ९. अघोरनाथी, १०. संज्ञानाथी, ११. भावनाथी, १२. जगजीवननाथी, १३. छोटे ब्रह्मनाथी।

(ब) अपारनाथी पंथी।

१. ओंकारी, २. परमानन्दी, ३. बोदला, ४. यती, ५. नागेन्द्रनाथी, ६. सागर बोदला, ७. बोधनाथी, ८. कुमसनाथी, ९. सहजनाथी, १०. पारसनाथी, ११. महेशनाथी, १२. विश्वम्भरनाथी, १३. तारानाथी, १४. रुद्रनाथी।

(स) पुरी, भूरवार सम्प्रदाय।

१. भगवान पुरी, २. भगवंत पुरी, ३. गंग दरियाव, ४. लहर दरियाव, ५. प्रणवपुरी, ६. जड़भरत पुरी, ७. सहज पुरी, ८. मुनि मेघनाथ पुरी, ९. बोधो अयोध्या पुरी, १०. ज्ञाननाथ पुरी, ११. अर्जुन पुरी, १२. नीलकंठ पुरी, १३. हनुमान पुरी, १४. वैकुण्ठी, १५. मुलतानी, १६. मथुरा पुरी, १७. केवल पुरी, १८. दसनाम तिलक पुरी, नारद पुरी।

(द) बन ।

१. श्यामसुन्दर बन, २. रामचन्द्र बन, ३. शंखधारी बन, ४. बलभद्र बन ।

(प) भारती ।

१. नरसिंह भारती, २. मनमुकुन्द भारती, ३. विश्वम्भर भारती, ४. पद्मनाभ भारती ।

दशनामी संन्यासियों में आध्यात्मिक प्रगति की अवस्थाएँ

दस संघों के नाम के सम्बन्ध में इतना लिखा गया । किन्तु हर एक संघ में संन्यासी अपनी आध्यात्मिक प्रगति अथवा चरित्र की उच्चता के अनुसार चार विभागों में श्रेणीबद्ध हैं । वे हैं—१. कुटीचक, २. बहूदक, ३. हंस और ४. परमहंस । इन श्रेणियों में से प्रथम दो त्रिदंडी उपाधि धारण करते हैं अर्थात् तीन दंड धारण करनेवाले । ये तीनों दंड—वाणी, विचार और कर्म के नियंत्रण की प्रतिज्ञा के प्रतीक हैं । हंस अथवा परमहंस, एकदंडी अथवा दंडी कहे जाते हैं अर्थात् केवल एक दंड धारण करनेवाले ।

कुटीचक (जिसे कुटीचर भी कहते हैं) उस संन्यासी को कहते हैं जो संसार का त्याग करके जंगल में कुटी बनाकर रहता है । वह धार्मिक चिन्तन और पूजन में लगा

रहता है। न तो यात्रा करता और न भिक्षा माँगता है। अयाचित रूप से यात्री उसे जो भिक्षा दे देते हैं वह उसी पर निर्भर रहता है।

बहूदक भ्रमणशील धार्मिक संन्यासी को कहते हैं जो अन्नादि के रूप में भिक्षा ग्रहण करता है; रुपये-पैसे के रूप में कभी नहीं। और एक स्थान में तीन दिन से अधिक नहीं रह सकता।

हंस वे संन्यासी हैं जो वेदान्तदर्शन में पारंगत होते हैं और ब्रह्मलोक में परब्रह्म का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने का उद्देश्य रखते हैं। एक स्थान में रहनेवाले त्रिदंडी केवल रामानुजियों में पाये जाते हैं और शैव दशनामियों में केवल दंडी होते हैं। वे भिक्षा पर निर्वाह करते हैं और सच्चे मन से योगाभ्यास में लगे रहते हैं।

परमहंस आध्यात्मिक विकास की सर्वोच्च स्थिति का प्रतिनिधि है। उसने सम्पूर्ण मोक्ष प्राप्त कर लिया है और अपने आत्मा को परब्रह्म में लीन कर दिया है। इस प्रकार वह आध्यात्मिक ज्ञान का परम आचार्य और मानव समाज का सर्वोच्च शिक्षक हो जाता है।

भाषाविज्ञानियों के अनुसार कुटीचक नाम इसलिए पड़ा है कि ऐसा संन्यासी कुटी में रहता है। बहूदक इसलिए कि विचरणशील जीवन का व्रत लेने के कारण

वह अनेक स्थानों का जल ग्रहण करता है। हंस संन्यासी ब्रह्मा के आसन मानसरूप पवित्र झील में तैरनेवाले हंस की तरह हैं जो जीवात्मा और परमात्मा के प्रत्यक्ष मिलन के द्वारा ईश्वरीय ज्ञान का परम आचार्य हो गया है। परम सत्य का साक्षात्कार कर लेने के अनन्तर हंस और परमहंस को मूर्त्तिपूजा की आवश्यकता शेष नहीं रह जाती। मूर्त्तिपूजा मनुष्य के आध्यात्मिक विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं ही के लिए आवश्यक होती है; किन्तु कुछ हंस और परमहंस संन्यासी देवी की पूजा करते हैं।

स्वभावतः हिन्दुओं में दंडी संन्यासियों के प्रति सर्व्वोच्च आदर भाव है, क्योंकि उनके सम्बन्ध में यह विश्वास किया जाता है कि आध्यात्मिक दृष्टिकोण से वे मानव धरातल से ऊँचे उठकर स्वयं नारायण पद को प्राप्त हो जाते हैं।

संन्यासियों के भिन्न भिन्न नियमों के पालन अथवा परिपाटियों के अनुसार उनका और भी अधिक वर्गीकरण अथवा (जो कहना अधिक संगत होगा) प्रतिविभाग किया गया है। ये हैं—(१) भोगवार अर्थात् वे संसार की समस्त वस्तुओं के प्रति उदासीन भाव रखते हैं। भोग उन सांसारिक वस्तुओं का स्वाद लेने को कहते हैं जो जीवन

के लिए नितान्त आवश्यक नहीं हैं। (२) कीटवार अथवा वे जो स्वल्पाहार करने का प्रयत्न करते हैं। (३) आनन्दवार अथवा वे जो भिक्षा की याचना से विरत रहते हैं और उतने ही पर निर्वाह करते हैं जितना उन्हें स्वतन्त्र रूप से मिल जाता है। (४) भूरिवार अथवा वे जो जंगल में उत्पन्न होनेवाली वनस्पति आदि से अपना निर्वाह करते हैं।

पंचम अध्याय

दशनामी संन्यासियों के नियम तथा प्रचलन

संन्यासी की आवश्यक योग्यता

जो लोग संन्यास की दीक्षा लेते हैं वे दो कारणों में से किसी एक से प्रेरित होते हैं। वे हैं (१) दुर्भाग्य अथवा किसी शोक के कारण गृहस्थ-जीवन से घृणा, (२) सर्वोच्च आध्यात्मिक उन्नति के साधन के रूप में संन्यासी-जीवन-सम्बन्धी सुचिन्तित स्वीकृति। हमारे प्राचीन धर्मशास्त्र इसे प्रमाणित करते हैं। व्यास ने लिखा है, "ब्रह्मचारी, गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ जीवन की इन तीन अवस्थाओं में से किसी में रह कर यदि कोई मनुष्य समस्त सांसारिक कामनाओं से अपने चित्त को विरक्त कर लेता है तो उसे परिव्राजक की स्थिति ग्रहण करनी चाहिए।"

सौर पुराण का कहना है :—

"जब तुम्हारा चित्त समस्त वस्तुओं से अनासक्त हो जाय तभी तुम्हें संन्यास ग्रहण करना चाहिए, नहीं तो तुम पाप के भागी होगे।"

अत्रिसंहिता भी घोषित करती है—

"मनुष्य तब तक दुःख और आवागमन के बंधनों से मुक्त न होगा जब तक वह विष्णु का चिह्न (अर्थात् भिक्षुक संन्यासी का दंड) प्रसन्नतापूर्वक नहीं ग्रहण करेगा।

एक अन्य संस्कृत ग्रंथ का कहना है कि निम्नलिखित श्रेणी के लोग कदापि संन्यास की दीक्षा प्राप्त करने के योग्य नहीं हैं—कामी, क्रोधी, द्वेषी, अभिमानी, लोभी, प्रमादग्रस्त, माया-पीड़ित, संग-लोलुप, विलास-प्रेमी, आवेश-विचलित और अनवरत रोगी।"

संन्यासी होने की योग्यता रखने-वाली जातियाँ

इस सम्बन्ध में प्राचीन स्मृति-ग्रंथों के रचयिताओं में कुछ अस्पष्टता है, जिससे विवाद और मतभेद उत्पन्न हुआ है। सबकी सम्मति है कि पार्थिव जीवन के इस चतुर्थ आश्रम में प्रवेश करने के लिए ब्राह्मण अधिकारी है। लेकिन अन्य लेखकों ने 'द्विज' शब्द का प्रयोग करके, जिसमें ब्राह्मणों के साथ क्षत्रिय और वैश्य भी सम्मिलित हैं, तीनों वर्णों को इसे प्रदान किया है। "त्रैवारिक संन्याससार" नामक ग्रंथ में कैलाश पर्वत ने याज्ञवल्क्य स्मृति और ब्रह्मवैवर्तपुराण

से श्लोक उद्धृत करके यह प्रमाणित किया है कि प्रथम तीन वर्ण निस्सन्देह संन्यास की दीक्षा प्राप्त करने के अधिकारी हैं। कूर्म्म पुराण के बारहवें अध्याय से एक उदाहरण उद्धृत किया गया है जिससे ज्ञात होता है कि पृथु के पौत्र सुशील नामक राजा को श्वेताश्वतर मुनि नामक महात्मा ने संन्यास की दीक्षा देकर ब्रह्मज्ञान प्रदान किया था। दूसरी ओर गोपालानन्द परमहंस अपनी पुस्तक "संन्यास-ग्रहण-पद्धति" के पाँचवें पृष्ठ में दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि ब्राह्मणेतर वर्णों को यह अधिकार नहीं प्राप्त है। उन्होंने यह प्रमाणित करने के लिए कि क्षत्रिय और वैश्य इस अधिकार से विशेष रूप से बहिष्कृत हैं, अनेक श्लोक उद्धृत किये हैं।

परन्तु आधुनिक समय में हम देख रहे हैं कि मठों के अध्यक्ष तीनों उच्च वर्णों में से संन्यासी बना रहे हैं और ये संन्यासी पूर्ण दीक्षा के अनन्तर वर्ण से ऊपर और परे माने जाते हैं।

संन्यास-दीक्षा के संस्कार तथा मंत्रादि—

जब कोई व्यक्ति संन्यासाश्रम में प्रवेश करने का विचार कर लेता है तो अपने इस निश्चय की सूचना वह संन्यासियों के मठाध्यक्ष को देता है। उसकी परीक्षा ली जाती

है और जब उसमें उत्तीर्ण होकर वह अनुमति प्राप्त कर लेता है तब उसके द्वारा अनेक संस्कारों का पालन कराया जाता है। परमहंस गोपालानन्द-कृत "संन्यास-ग्रहण-पद्धति" (काशी वि० संवत् १९९८) और विश्वेश्वर सरस्वती-कृत 'यतिधर्म-संग्रह' (आनन्द आश्रम प्रेस, सन् १९०९ ई०) के आधार पर इनका यहाँ पूर्ण वर्णन किया जायगा।

सबसे पहले दीक्षार्थी चार संस्कारों द्वारा, जिन्हें कृच्छ्र कहते हैं, अपने शरीर की शुद्धि करता है।

इसके अनन्तर उसे संकल्प कार्य ग्रहण करना चाहिए।

दूसरे दिन उसे स्नान, संध्या-वंदन, विष्णुपूजन आदि करके किसी नदी या सरोवर के तट पर अपने पूर्वजों का श्राद्ध करना चाहिए। उसे श्राद्ध-सम्बन्धी आठ देवताओं का यथाविधि तर्पण करना चाहिए तथा आवश्यक वैदिक मंत्रों का उच्चारण और अवसर के उपयुक्त दानादि कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए।

ये श्राद्ध संस्कार सात या आठ दिनों तक चल सकते हैं। इसके अनन्तर उसे शिखा-मात्र को छोड़कर दाढ़ी, मूँछ और शिर का मुंडन करा लेना चाहिए।

तत्पश्चात् अवसर के उपयुक्त संस्कार और मंत्रोच्चारादि-पूर्वक उसे अपनी समस्त पार्थिव सम्पत्ति का त्याग

करके कौपीन, दण्ड और कमण्डलु धारण करना चाहिए।

इस समय जो यज्ञ किया जाता है उसे "प्राजापत्येष्टि" कहते हैं। होमाग्नि प्रज्वलित करके दीक्षार्थी उसके सामने बैठ जाता है और समिध, आज्य और चरु को हवन के लिए तैयार रखता है।

इस तैयारी के बाद संन्यासी सुरक्षित अग्नि में चरु का परिपाक करता है। आज्य (घृत) निकाल कर पुरुष-सूक्त (ऋग्वेद १०,९०) के सोलह मंत्रों का उच्चारण करके शुद्धि के लिए विरजा होम करता है और प्रत्येक मंत्र के अन्त में घी की आहुति देता जाता है।

पुरुषसूक्त (परमात्मा-विषयक मंत्र)

१—पुरुष (सम्पूर्ण विश्व में चैतन्य-संचारक परमात्मा) सहस्र शिर, सहस्र नेत्र और सहस्र चरणयुक्त है। वह समस्त दिशाओं में पृथ्वी को घेरे हुए है और दस अंगुलि की चौड़ाई तक उससे परे विस्तृत है।

२—सत्य यह है कि इस समय जो संसार स्थित है, जो पहले था और जो आगे होगा वह सब पुरुष है। वही अमरता का देनेवाला है, क्योंकि आत्मा के स्वरूप से परे होकर उसने समस्त जीवों के पोषण के लिए व्यक्त जगत् का रूप धारण किया है।

३—भूत, वर्तमान और भविष्य, सभी युगों का विश्व उसकी महत्ता का व्यक्त रूप है। वह इन सबसे महान् है। समस्त प्राणी मिलकर उसके चतुर्थांश-मात्र हैं। उसके शेष तीन चतुर्थांश अपने ही आप में व्यक्त रहकर अमर रहते हैं।

४—पुरुष के ये तीन चतुर्थांश उच्च गौरव से युक्त होकर ऊँचे, हमारे भौतिक जगत् से ऊपर, निवास करते हैं। उनका एक चतुर्थांश बारम्बार मायामय जगत् में प्रवेश करता है और इस प्रकार त्रिविध रूप धारण करके समस्त चेतन और जड़ जगत् को प्राणान्वित करता है।

५—उस पुरातन पुरुष से यह सम्पूर्ण विराट् व्यापक महाशरीर उत्पन्न हुआ है। इसी महाशरीर से उस लिंगात्मा का प्रादुर्भाव हुआ है जिससे पहले देवताओं और मनुष्यों की तथा बाद को पृथ्वी और पशुओं की उत्पत्ति हुई।

६—जब देवताओं ने पुरुष को अर्घ्य, घृत, रूप में कल्पित करके यज्ञ किया तो उसमें वसन्त ऋतु ने मक्खन, ग्रीष्म ऋतु ने समिध और शरद ऋतु ने बलि के रूप में सेवा प्रदान की।

७—उन्होंने सृष्टि के आदि में प्रादुर्भूत होनेवाले पुरुष को पवित्र दूर्वादल पर बलि चढ़ाया। प्रजापति और

ऋषियों की अध्यक्षता में देवताओं ने पुरुष को बलिपशु के रूप में कल्पित करते हुए यज्ञ किया।

८—जिस यज्ञ में परमात्मा की बलि दी गई थी उससे दही और मक्खन का मिश्रण उत्पन्न हुआ। इस यज्ञ से वे जंगली और पालतू पशु भी उत्पन्न हुए जिनका देवता वायु है।

९—उस यज्ञ से, जिसमें परमात्मा की बलि दी गई थी, ऋक् और सामवेद, गायत्री तथा अन्य मंत्र और यजुर्वेद की उत्पत्ति हुई।

१०—उस यज्ञ से घोड़े और दाँतों की दो पंक्तियों-वाले सभी पशु और गायें, बकरियाँ और भेड़ें उत्पन्न हुईं।

११—देवताओं ने जब इस प्रकार पुरुष की बलि की तो किन विभिन्न भागों में उन्होंने उसे विभक्त किया? उसके मुख को, बाहुओं को, जंघों को तथा पैरों को क्या उपाधि मिली?

१२—उसका मुख ब्राह्मण, उसके बाहु राजन्य, उसके जंघे वैश्य और उसके पाँव शूद्र हुए।

१३—उसके मन से चन्द्रमा की, नेत्र से सूर्य की, मुख से इन्द्र और अग्नि की और उसके प्राण से वायु की उत्पत्ति हुई।

१४—उसकी नाभि से अन्तरिक्ष की, शिर से द्यु-लोक की, पैरों से पृथ्वी की और कानों से दिशाओं की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार देवताओं ने संसार की कल्पना की।

१५—उस यज्ञ में सप्त छंद घेरे के रूप में और इक्कीस तत्त्व समिध के रूप में कल्पना में आये और देवताओं ने, जिन्होंने यह यज्ञ किया, पुरुष को बलि देने के लिए खूँटे से बाँध दिया।

१६—यज्ञ के द्वारा देवताओं ने उसकी पूजा की—उसकी जो स्वयं ही यज्ञरूप है अतएव वे ही प्रथम धर्म-तत्त्व हुए। जिस स्वर्ग में प्राचीन देवता निवास करते हैं उसकी उपलब्धि विराट् पुरुष की अर्चना करनेवाले महात्माओं को भी हो सकती है।

विरजा होम, शुद्धि-यज्ञ

काष्ठ के चमचे (स्रुवा) द्वारा अग्नि में घी की आहुति छोड़ते हुए संन्यासी को निम्नलिखित मंत्रों का उच्चारण करना चाहिए :—

ॐ वायु मेरे समस्त अंगों—प्राण, आकृति, आँतों, कण्ठ, नाभि आदि—में शुद्ध हो; मैं निर्मल, दोष-रहित प्रकाश हूँ। मैं अपने कल्याण के लिए इस घी की आहुति अग्नि में दे रहा हूँ। अपने अंतर में स्थित वायु को मैं प्रणाम करता हूँ।

मेरी भाषा, मेरा मन, मेरे नेत्र, मेरे कान, मेरी वाणी, मेरा घ्राण, मेरी बुद्धि और मेरे उद्देश्य शुद्ध हों। मैं निर्मल, दोषरहित प्रकाश हूँ। मैं अपने कल्याण के लिए····आदि (जैसा ऊपर प्रथम मंत्र में है)।

मेरी त्वचा, मांस, रक्त, मेद, मज्जा, स्नायु और अस्थियाँ सब शुद्ध हों। मैं अपने····················(जैसा ऊपर प्रथम मंत्र में है)।

मेरा सिर, चरण, पाँव, पार्श्व, पृष्ठ, उदर, जानु शुद्ध हों। मैं अपने.... (जैसा ऊपर प्रथम मंत्र में है)।

देवी मुझे शुद्ध करे, मैं अपने....(जैसा ऊपर प्रथम मंत्र में है) भूमि, जल, प्रकाश, वायु और आकाश मुझे शुद्ध करें। मैं अपने कल्याण....(जैसा ऊपर प्रथम मंत्र में है)।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध मुझे शुद्ध करें। मैं अपने कल्याण....(जैसा ऊपर प्रथम मंत्र में है)।

मेरा मन, वाणी, आकार तथा कार्य शुद्ध हो।

अव्यक्त विचार और अहंकार से ईश्वरीय प्रकाश मुझे विशुद्ध करे।

मेरा आत्मा, अंतरात्मा और परमात्मा विशुद्ध हो।

मैं घृत की यह आहुति भूख और प्यास के लिए, विविद्या के लिए, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद के मंत्रों आदि के लिए छोड़ता हूँ।

इस प्रकार इनमें से प्रत्येक के लिए अलग अलग विरजा होम के उक्त मंत्रों में से प्रत्येक के अंत में समिध, घृत और चरु प्रदान करके उसे अग्नि, प्रजापति, आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा, ज्ञानात्मा के नाम में घी छोड़ना चाहिए और उन्हें प्रणाम करना चाहिए। इसके अनन्तर पुरुषसूक्त के सोलह मंत्रों में से प्रत्येक का अलग अलग उच्चारण करके होम करना चाहिए।

तत्पश्चात् वैदिक और औपनिषदिक मंत्रों द्वारा उसे इस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिए—

ॐ निर्गुण ब्रह्म (अथवा कारण) पूर्ण है, सगुण ब्रह्म (अथवा कार्यशील ब्रह्म) भी पूर्ण है। पूर्ण से पूर्ण का प्रादुर्भाव होता है पूर्ण ब्रह्म में से पूर्णता का शेष करने पर हमारे हृदयों में निस्सन्देह पूर्ण ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जायगा (बृहदारण्यकोपनिषद ५, १, १)।

इन यज्ञों को पूर्ण करने के अनन्तर संन्यासी अपने बाल-बच्चों और मित्रों को यह कहता हुआ त्यागता है "सब लोग सुनो। अपने गुरुदेव की कृपा से मैं सांसारिक जीवन (संसार) को पार करने के लिए उत्कंठित हूँ। मैंने सबके प्रति अपनी ममता त्याग दी है। मैंने पुत्रैषणा, धनैषणा और लोकैषणा का परित्याग कर दिया है। तुम्हें भी मेरे प्रति अपनी ममता छोड़ देनी

चाहिए और मेरे संन्यास स्वीकार करने के पथ में बाधक न होना चाहिए।" अपने हाथों की अंजलि में जल लेकर 'आशुः शिशानो' से प्रारम्भ होनेवाले पूरे वैदिक मंत्र का उच्चारण करके उसे समस्त देवताओं के प्रति अर्घ्य के रूप में पृथ्वी पर गिरा देना चाहिए।

तदनन्तर संन्यासी को किसी नदी अथवा सरोवर के तट पर जाकर स्नान और संध्या करनी चाहिए और संन्यासाश्रम ग्रहण करने का व्रत लेना चाहिए जिससे मनुष्य के अगणित क्लेशों का निवारण हो सकता है तथा जो उसे सर्वोच्च आनन्द तथा मानवता की परम पूर्णता तक पहुँचा सकता है। जल का अर्घ प्रदान करके उसे अभय-प्राप्ति के निमित्त प्रार्थना करनी चाहिए और तब सूर्य और चन्द्र, पवन और अग्नि, भूमि और आकाश, हृदय और मन, दिन और रात्रि, उषा और संध्या तथा समस्त देवताओं का, अपने संन्यासी होने के दृढ़ निश्चय के साक्षी होने के लिए, वह आवाहन करे। नाभि तक जल में प्रवेश करके उसे ॐ भूः भुवः स्वः तथा अन्य कुछ मंत्रों का उच्चारण करना चाहिए और अर्घ देना चाहिए।

नदी अथवा तालाब में इस प्रकार खड़े होकर उसे हाथ की अंजलि में थोड़ा सा जल लेना तथा प्रेश मंत्र

का उच्चारण करना चाहिए—"ओम् पृथ्वी, मैं संन्यासी हो गया हूँ, ऊँ स्वर्ग, मैं संन्यासी हो गया हूँ, ऊँ नरक, मैं संन्यासी हो गया हूँ।" स्वर के तीन उतार-चढ़ाव-पूर्वक इसकी तीन आवृत्ति होनी चाहिए। हाथों की अंजलि में लिये हुए जल को पूर्व की ओर मुख करके 'सब जीव मेरे प्रति सब प्रकार के भय से मुक्त हों' कहते हुए जल में गिरा देना चाहिए।

अन्य संस्कार यज्ञोपवीत का त्याग और शिखा का मुंडन है।

दीक्षा संस्कार का अंतिम अंश

जल में से बाहर निकल आने के बाद जब नव संन्यासी अपने कपड़े उतार कर जन्म-समय की सी नग्नावस्था में पाँच या सात कदम चल लेगा तब उसके आचार्य साष्टांग प्रणिपात-पूर्वक जन-साधारण के समक्ष शिष्टाचार रूप में कौपीन धारण करने की प्रेरणा करेंगे तथा सींगवाले पशुओं और सर्पों आदि से बचने के लिए दंड एवं एक कमंडलु देंगे।

मरने पर संन्यासी सीधी स्थिति में विठा दिया जाता है। पीछे की ओर गिरने से बचाने के लिए उसकी बाहों के नीचे लकड़ी का एक ढाँचा रख दिया जाता

है। मृत शरीर ढाँचे के सहित इसी स्थिति में, पृथ्वी में गढ़ा खोदकर, समाधिस्थ कर दिया जाता है और दंड तथा एक तूँबा उसके पार्श्व में रख दिये जाते हैं। मृत शरीर का मुख पूर्व अथवा उत्तर-पूर्व की ओर होता है। इसके बाद निर्जीव शरीर को शीघ्र गलाने के उद्देश्य से उस पर नमक छिड़क दिया जाता है। दिवंगत संन्यासी की मृत्यु के तेरहवें या चालीसवें दिन अथवा छः महीने या एक वर्ष के भीतर ही उसका शिष्य कुछ ब्राह्मणों और साधुओं को भोजन कराता है। यह भंडारा कहा जाता है। विशेष धर्मनिष्ठ अथवा धनवान् महन्तों की समाधि पर मन्दिर अथवा समाधि-स्तम्भ बना दिये जाते हैं और इनमें दीपक जलाये जाते हैं तथा पूजा की जाती है।

गंगातट पर स्थित हरद्वार, काशी, प्रयाग जैसे स्थानों में धनवान् संन्यासियों का मृत शरीर, विशेष कर महन्तों और मंडलेश्वरों का, 'तनका' कहे जानेवाले पत्थर के शवाधारों में, जो कसकर बाँधे जानेवाले पत्थर के ढक्कनों से आवृत रहते हैं, रक्खा जाकर देवसरि में प्रवाहित कर दिया जाता है। निर्धन संन्यासियों के मृत शरीर को, सिर और पैरों में दो पत्थर बाँध कर जलमग्न कर देते हैं। बोधि गया तथा देश के मध्य

भागवती मठों में पत्थर अथवा शवाधारों द्वारा समाधि प्रदान के अगणित दृष्टान्त मिलते हैं । यहाँ यह बता देना उचित होगा कि चैतन्य सम्प्रदाय के बंगाली वैष्णव संन्यासी अपने मृत संन्यासियों को सदैव पृथ्वी में गढ़ा खोद कर ही बैठने की मुद्रा में समाधिस्थ करते हैं यद्यपि इस सम्प्रदाय का जन्म दशनामियों के अनेक शताब्दियों बाद हुआ ।

संन्यासी शिव का साधारण रीति से तथा शक्ति (शिव की पत्नी) की 'मार्ग' अथवा मुक्ति-पथ कहे जानेवाले एक विशेष गुप्त अनुष्ठानपूर्वक पूजा करते हैं। शिव स्वयं ही रुद्राक्ष बीजों की माला धारण करते हैं अतः प्रत्येक संन्यासी भी वही करता है। एकमुखी रुद्राक्ष बीज अत्यन्त पवित्र और आध्यात्मिक शक्ति-सम्पन्न माना जाता है और प्रायः बहुत महँगे दामों में मिलता है। पवित्रता में इससे उतर कर एकादशमुखी रुद्राक्ष बीज माना जाता है।

नागा और तपस्वी लोग अपने सम्पूर्ण शरीर में राख लगाते हैं, जिसे वे योगी शिव की विभूति मानते हैं। अन्य संन्यासी मस्तक में राख का त्रिपुंड् चिह्न लगा लेते हैं और शरीर के ग्यारह अन्य स्थानों में भी वैसा ही करते हैं । इसे द्वादश विभूति कहते हैं।

श्लोक—कपालं वक्षमूलानि कुचैलं असहायता।
समता चैव सर्वस्मिन् एतद् मुक्तस्य लक्षणम्।

आदर्श संन्यासी के लक्षण यह हैं (पानी पीने के लिए) मिट्टी का पात्र, (खाने के लिए) वृक्षमूल, मोटा कपड़ा, पूर्ण एकान्त, सबके प्रति समभाव।

संन्यासी के पालन करने के लिए व्यक्तिगत आचरण-सम्बन्धी नियम

१—भिक्षा के लिए जाने पर संन्यासी को कमर में एक वस्त्र घुटनों के ऊपर तथा नाभि के नीचे धारण करना चाहिए और एक वस्त्र कंधों के ऊपर। चौबीस घंटों में उसे केवल एक बार ही भोजन ग्रहण करना चाहिए। (३) बस्ती से उसे बाहर रहना चाहिए। (४) कुटीचक के अतिरिक्त अन्य किसी संन्यासी को सात से अधिक घरों से भिक्षा न ग्रहण करनी चाहिए। (५) संन्यासी भूमि पर शयन करेगा। (६) वह न किसी को नमस्कार करेगा, न किसी की प्रशंसा करेगा और न किसी की निन्दा करेगा। (७) वह अपने से उच्च कोटि के अथवा अपने से पूर्वकालीन संन्यासी को ही प्रणाम करेगा। (८) वह गेरुए रंग के अतिरिक्त अन्य किसी वस्त्र से शरीर नहीं ढक सकता।

महन्ती का उत्तराधिकार

अनेक मठों के उत्तराधिकार-सम्बन्धी अपने विशेष नियम होते हैं लेकिन अधिकांश के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है। उन सबकी साधारणतया प्रचलित परिपाटी यह है कि प्रचलित अधिकारी महन्त मौखिक रूप से अथवा लिखित पत्र के द्वारा किसी शिष्य को अपना उत्तराधिकारी निर्वाचित करता है। महन्त के देहावसान के तेरहवें दिन उसका भंडारा होता है जिसमें निकटवर्ती मठों के निवासी भोजन के लिए निमंत्रित किये जाते हैं। तब उसका कारबारी वसीयतनामे में लिखित बातों की सूचना देता है। एकत्र संन्यासियों को दिवंगत महन्त के निर्वाचित व्यक्ति को अस्वीकृत कर देने का अधिकार रहता है, यदि उनकी दृष्टि में वह अयोग्य है। उस अवस्था में वे तुरन्त ही स्वर्गीय महन्त के किसी अन्य शिष्य को रिक्त गद्दी पर बिठाते हैं। यदि उत्तराधिकार के सम्बन्ध में स्वर्गीय महन्त का कोई मत प्राप्त नहीं है और न उनका कोई शिष्य ही है तो उनके शिष्य का शिष्य अथवा उनका गुरुभाई, अथवा उनके गुरुभाई का शिष्य उत्तराधिकारी होगा और निर्वाचन इसी क्रम का अनुसरण करेगा। यदि उक्त कोटियों में भी कोई उत्तराधिकारी प्राप्त नहीं है तो एकत्र संन्यासी किसी

भी द्विज-बालक को इस कार्य के लिए ले सकते हैं और स्वर्गीय महन्त की समाधि पर उसकी शिखा का मुण्डन करा कर उसका उत्तराधिकारी बना सकते हैं।

व्यवस्था

एक प्रान्त के सब मठों के मिलने से मंडल बनता है। इन मठों में से किसी एक के महन्त को प्रान्त के सब संन्यासी मिलकर मंडल का महन्त निर्वाचित करते हैं। मंडल में जब कभी कोई उत्सव होता है तो मंडल के महन्त को प्रत्येक मठ से १ रु० ४ आ० की भेटपूजा प्राप्त होती है। वह अपना कारबारी और कोतवाल नियुक्त करता है। न्यायाधीश के रूप में अपने प्रान्त के अन्तर्गत दोषी संन्यासियों पर वह अभियोग चलाता है और आर्थिक दण्ड अथवा बहिष्कार दंड आदि की आज्ञा जारी करता है।

विद्या-प्रचार

जनता में धर्म-प्रचार करना मठधारियों का प्रधान कार्य होने के कारण संस्कृत तथा धर्मशास्त्र-सम्बन्धी ज्ञान के निमित्त संन्यासियों की शिक्षा की ओर विशेष

ध्यान दिया जाता है। मंडलेश्वर को, जिसकी तुलना अँगरेजी गिरजाघर के अध्यक्ष अथवा मध्ययुगीन कैथलिक विश्वविद्यालय के प्रधान से की जाती है, व्याकरण, तर्क-शास्त्र, ज्योतिष, वेद और वेदान्त में पारंगत होना चाहए। वह परमहंस कहा जाता है और सौ से लेकर दो सौ साधुओं तक को अपने नेतृत्व में लेकर देश में पर्यटन करता है। इन साधुओं को वह धर्मशास्त्र तथा अद्वैत-दर्शन की उपदेश-पद्धति-सम्बन्धी शिक्षा देता है । हृषी-केश, हरद्वार, प्रयाग, काशी और कुछ अन्य नगरों में इस सम्प्रदाय के कई बड़े संस्कृत-विद्यालय चल रहे हैं। जब मण्डलेश्वर दौरे पर बाहर जाते तो उनकी अनुपस्थिति में उनका सर्वोत्तम शिष्य शिक्षण का कार्य करता है।

यह सोचना गलत होगा कि दसनामियों के' दोनों विभाग—अस्त्रधारी और शास्त्रधारी—अपने नियत कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में किसी विशेष प्रकार का पार्थक्य रखते हैं। धर्मशास्त्र-सम्बन्धी मूल्यवान् शिक्षण का यथेष्ट कार्य अखाड़ों के द्वारा किया जाता है। उदाहरण के लिए निर्वाणी अखाड़ा ने प्रयाग में 'निर्वाण वेद-विद्यालय', हरद्वार में 'कनखल पाठशाला' आदि विद्यालयों की स्थापना की है।
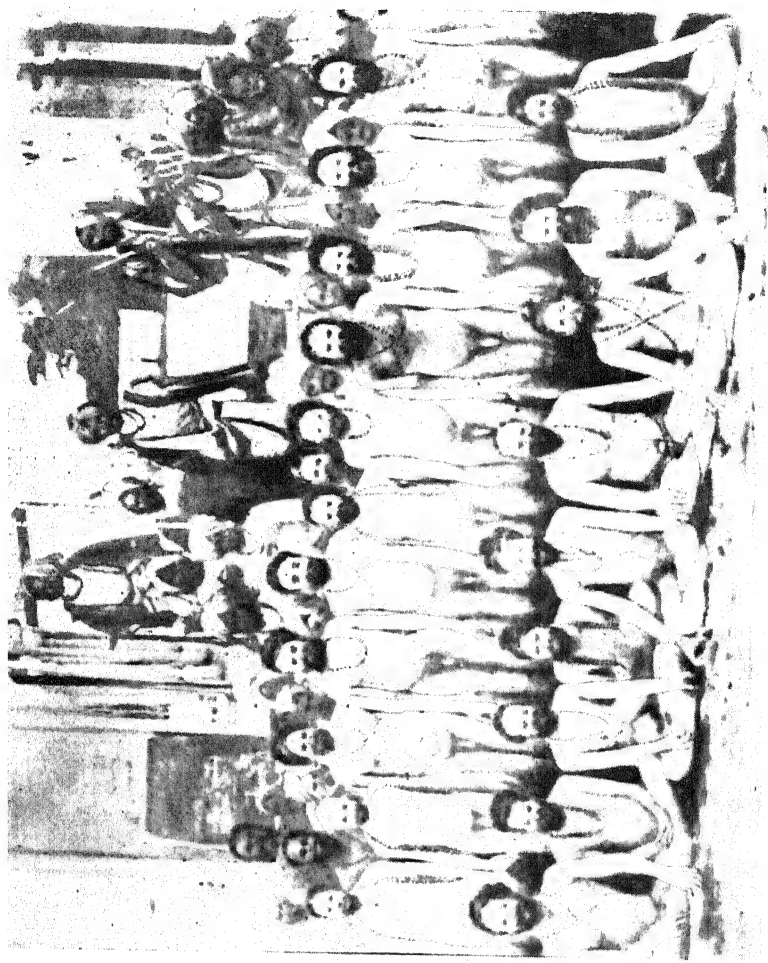
श्री अखाड़ा पंचायती महानिर्वाणी के रमता पंच

षष्ठ अध्याय

अखाड़े और उनका विधान

अखाड़ों का भूतकालीन इतिहास

दुर्भाग्य से गोसाईं राजेन्द्र गिरि की क्रम-परम्परा के पूर्व विभिन्न अखाड़ों की उत्पत्ति और उनके इतिहास का कोई समसामयिक उल्लेख-पत्र हमें उपलब्ध नहीं है। ये राजेन्द्र गिरि सन् १७५० ई० के लगभग दिल्ली साम्राज्य-सम्बन्धी मामलों के कारण प्रसिद्धि में आये थे। उस समय के आगे योद्धा संन्यासियों (नागा साधुओं) के कार्यों का ब्योरेवार और विश्वसनीय वृत्त हमें सुलभ है।

दसनामी संन्यासियों के छः अखाड़े प्रसिद्ध हैं। इन अखाड़ों की व्यवस्था में कहीं कहीं थोड़ा-बहुत अन्तर होने पर भी प्रायः सबमें एक ही सी पद्धति प्रचलित है। छः अखाड़ों के नाम श्री अखाड़ा महानिर्वाणी, श्री निरंजनी अखाड़ा, श्री अटल अखाड़ा, श्री आनंद अखाड़ा, श्री जूना अखाड़ा और श्री आवाहन अखाड़ा।

उक्त छः अखाड़ों में से दो अखाड़ों की एक विशेषता उल्लेखनीय है। ये हैं—निर्वाणी अखाड़ा और निरंजनी

अखाड़ा। इन दोनों ही में मादक द्रव्य का सेवन निषिद्ध है। शेष अखाड़ों में ऐसी बात नहीं है।

निर्वाणी अखाड़ा श्री कपिल महामुनि का उपासक है। भेख में उसका एक प्रतिष्ठित और आदरणीय स्थान है। आठ महन्त और आठ कारबारी सेक्रेटरियों के द्वारा इसका संचालन करते हैं। इन्हीं को व्यवस्था का समस्त अधिकार रहता है। निर्वाणी अखाड़े का झंडा सूर्यप्रकाश और भैरवप्रकाश है।

शेष अखाड़ों की व्यवस्था भी इसी ढंग से होती है।

निर्वाणी अखाड़े के परम्परागत भाट के पास एक हिन्दी पांडुलिपि पाई गई है जिसमें विभिन्न अखाड़ों के स्थापित होने तथा उनके द्वारा लड़ी जानेवाली कुछ लड़ाइयों की तारीखें, योद्धाओं के नाम समेत, देने की घोषणा की गई है। इस भाट-परिवार में मौखिक परम्परा से सुरक्षित कहानी-मात्र इस पुस्तक में दे दी गई है जो कागज, हस्तलेख और स्याही के रंग को देखते हुए पचास वर्षों से पहले की नहीं जान पड़ती। इसके अतिरिक्त इसमें केवल एक ही अखाड़े (निर्वाणी) के भाटों में प्रचलित परम्परा प्रस्तुत की गई है। इस कारण यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि यदि अन्य अखाड़ों के पास भी चारण होते तो उन्होंने दूसरी ही कहानी कही होती।

महंत बालक पुरीजी, सेक्रेटरी

इस सूचना के साथ तथा अनेक शताब्दियों तक मौखिक परम्परा से सम्भव स्वाभाविक ऐतिहासिक तोड़-मरोड़ के लिए भी उचित छूट देकर मैं इस पोथी में दिये गये वृत्तान्त का सारांश यहाँ देता हूँ।

(१) आवाहन अखाड़ा

मिरिच गिरि, दीनानाथ गिरि, रतन गिरि नागा, चतुरी गिरि नागा, दलपत गिरि जंगधारी, भवहरण पुरी, उदय पुरी, गणेश पुरी, थाड़ेश्वरी पुरी, दमड़ी चन्दन बन, त्रिलोकी ओंकार बन, पताकेश्वरी रतन बन मौनी, मौंसे जोगधारी।

हीरा भारती, सिद्ध गुदरबल भारती ने झंडा गाड़ा। गणपति भारती ने तुरही बजाई। हरद्वार भारती ने अखाड़े का निर्माण किया। वि० संवत् ६०३ ज्येष्ठ कृष्ण पक्ष नवमी शुक्रवार। यदि इसमें वर्षांक के पूर्व में एक सहस्र का लोप कर दिया गया है जैसा कि प्रायः प्राचीन लेखों में देखा जाता है, उदाहरण के लिए पुर्तगाली सरकारी पत्र, तो वर्षांक १६०३ वि० सं० हो जायगा जो ईसवी सन् के हिसाब से सन् १५४७ होगा।

(२) अटल अखाड़ा

बन खंड भारती, सागर भारती जहूरी, शिवचरण भारती जंगधारी (अथवा जोगधारी), अयोध्या पुरी, अटल

निर्वाण, दत्त पुरी, त्रिभुवन पुरी ऊर्ध्वबाहु, छोटे रणजीत पुरी, श्रवण गिरि अलोनी (ये नमक नहीं खाते थे), दयाल गिरि मौनी, महेश गिरि नक्खी (इनके नख बड़े बड़े थे), बेनी महेश गिरि बनखंडी, हिमाचल बन, प्रतीत बन पौहरी (फलाहारी) ने गोंडवाने देश (धरती) में अखाड़े का निर्माण किया। विक्रम सं० ७०३ मार्गशीर्ष शुक्ल चतुर्थी रविवार। यदि वर्षांक वि० सं० १७०३ था तो ई० सन् १६४६ हुआ।

महेश गिरि और मनोहर गिरि अवधूत ने शेखसिंह को जेल से मुक्त किया। योद्धा राजेन्द्र गिरि प्रताप गिरि ने मारवाड़ देश (धरती) में रामराजसिंह को बंदी बनाया। रामेश्वर पुरी ने रणदुन्दुभि बजाई। उमराव गिरि ने युद्ध में विजय प्राप्त की और मौर बुन्देला रामसिंह और जवाहरसिंह को भागने के लिए विवश कर दिया। संजा भारती ने शोभासिंह बुन्देला को बंदी बनाया। जंगधारी पुरी और दीप बन ने भोलासिंह बुन्देला के प्राण लिये।

रतदेव जी भाट ने इन वीर वृत्तान्तों का वर्णन किया। कंचन हजारी को झंडा ले जाने के उपलक्ष्य में, पारितोषिक रूप में, तीस लड़ीवाला मोतियों का एक हार और तीन ऊँट मिले।

(३) निर्वाणी अखाड़ा

रूप गिरि सिद्ध, उत्तम गिरि सिद्ध, रामस्वरूप गिरि सिद्ध, शंकर पुरी मौनी, दिगम्बर भवानी पुरी अलोनी ऊर्ध्वबाहु, देव बन मौनी, दिगम्बर ओंकार भारती तापेश्वरी, पूर्णानन्द भारती अग्निहोत्री ने गढ़कुण्डा* के मैदान में झारखंड देश में सिद्धेश्वर मंदिर के आँगन में धर्म का झंडा ऊँचा किया और कालभैरव गणेश के छत्र पर अपना छत्र आरोपित किया।

जोगानन्द चंदन पुरी नागा, जोरावर पुरी नागा, रामनरसिंह मौनी, नारायण भोपट गिरि जंगधारी, गौतम बन सिंहासनी, अमर भारती, नक्खी गिरि, नारायण गिरि, सुन्दर गिरि, आनन्द गिरि, खुशाल गिरि, वसन्त गिरि, रूप गिरि।

विक्रमी सं० ८०५ अगहन शुक्ल दशमी बृहस्पतिवार। अखाड़ा शोभा शीतल निर्वाण संत महंत ने मिलकर झंडा फहराया। शुभकरन ने निर्वाणी अखाड़े का निर्माण किया। (यदि विक्रमी सं० १८०५ था तो ई० सन् १७४९ ई० हुआ)

---

* कुण्डा छोटा नागपुर के प्राचीन पालामऊ राज्य में उत्तरी अक्षांश २४।१३ पूर्वी देशान्तर ८४।४५ पर स्थित है। कुण्डागढ़ को औरंगजेब के बिहार प्रान्तीय शासक ने मई सन् १६६१ में जीता।

निर्वाणी अखाड़े की लड़ाइयों का वर्णन

निर्वाणी अखाड़े के भवानन्द, सुरसुरानन्द और कमलानन्द ने बैरागियों पर हरद्वार के चौक में सं० १३१० ई० सन् १३६६ ई० में विजय प्राप्त की। गायब गिरि महराज, लक्ष्मी गिरि महराज, अभयनाथ भारती मौनी, जीवन पुरी जगधारी, विशाल पुरी महाराज, बनखंडी भारती महाराज, सहज बन अग्निहोत्री, बहादुर गिरि महाराज, ध्यान गिरि महाराज, परशुराम गिरि ने तलवार और इंद्र गिरि मौज गिरि महाराज ने गदका धारण किया।

हरद्वार क्षेत्र में उन्होंने शंखध्वनि की और अपना झंडा तथा निशान स्थापित किया। उन्होंने रामदल का संहार किया। राम भारती ने तुरही बजाई। मराठा सेनाओं ने अखाड़े में जाकर विजयी भगवा झंडा फहराया। निर्वाणी अखाड़ा ने शूरवीरता का यश पाया। खुशाल भाट ने युद्ध के उपलक्ष्य में इस गान की रचना की।

ज्ञानवापी की लड़ाई

काशी-क्षेत्र में, ज्ञानवापी मंदिर के निकट, रमण गिरि, लक्ष्मण मौनी, देश गिरि नक्खी ने राजा हरिदास केसरी, नरेंद्रदास से युद्ध किया और हरि महाराज महामौनी, लक्ष्मण मौनी, गोपाल मौनी, वंशगोपाल मौनी, हरसिद्ध मौनी, शारदा मौनी और बलभद्र मौनी

ने वीरतापूर्ण कार्य किये। घनश्याम पुरी ने भगवा झण्डा आरोपित किया। धरम पुरी हरिहेत जंगसार ने नौबत बजाई। विश्वम्भर भारती ने तलवार और ललित भगवान पुरी ने मयूरपंख धारण किया। जोगेन्द्र ने सम्मान प्राप्त किया। नारायण बन के परिवार ने गदा धारण की। इस विजय ने काशी की कीर्त्ति को बढ़ा दिया।

काशी-क्षेत्र में संवत् १७२१ (सन् १६६४ ई०) में उन्होंने सुल्तान औरंगजेब से युद्ध में विजय और महान् यश प्राप्त किया। सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक युद्ध हुआ और दसनामियों ने अपने को योद्धा प्रमाणित कर दिया। उन्होंने विश्वनाथ की गद्दी की प्रतिष्ठा सुरक्षित रक्खी। उन्होंने मिरजा अली तुरंग खाँ और अब्दुल अली को पराजित किया।

शुजाउद्दौला नजीब खाँ पठान से पराजित होनेवाला ही था कि शिव ने सहायता दी और दसनामी की प्रतिष्ठा रख ली।

(४) आनन्द अखाड़ा

विक्रमी सं० ९१२ (सन् ८५६ ई०) ज्येष्ठ शुक्ल चतुर्थी रविवार को बरार देश में कंथा गिरि महाराज,

हरिहर गिरि महाराज, रामेश्वर गिरि महाराज, खालसा पाटन गिरि महाराज, सवाई बोधो, देवदत्त भारती चौताल, हरिहर भारती सिद्ध, सात अन्य, शिवश्याम पुरी, खेमादल, पतर गोपाल भारती, हेम बन कवरी, श्रवण पुरी फलारी, गंगेश्वर भारती सुरति ने आनन्द अखाड़े का निर्माण किया।

(५) निरंजनी अखाड़ा

अत्रि मौनी सिद्ध, सरजू नाथ पुरुषोत्तम गिरि, हरिशंकर गिरि जंगधारी, श्रीपद गिरि पौहारी, बटुक गिरि नागा, जगन्नाथ गिरि दिगम्बर, जयकरण गिरि भडारी, रनछोड़ भारती, जगजीवन भारती पाटम्बरी (बल्कलधारी), अर्जुन भारती (डंकेश्वरी) ये बड़ा डंका पीटते थे। गुमान भारती, जगन्नाथ पुरी फलाहारी, स्वभाव पुरी, कैलाश पुरी टुकटुकिया, खड्गनारायण पुरी, बख्तावर पुरी ऊर्ध्वबाहु, उचित पुरी नागा उदम्बरी, खेम बन अग्निहोत्री, उदय बन फतेह बन उदम्बरी, भीम बन कोतवाल ने कच्छ देश में मांडवी नामक स्थान में अखाड़े का निर्माण किया। विक्रमी सं० ९६० कृष्णपक्ष षष्ठी सोमवार।

(६) जूना अखाड़ा (प्रारम्भिक नाम भैरव)

विक्रमी संवत् १२०२, कार्त्तिक शुक्ल दशमी मंगलवार को उत्तराखंड प्रदेश में कर्णप्रयाग में इस अखाड़े का निर्माण हुआ। इसके निर्माता थे मोखाम गिरि, सुन्दर गिरि मौनी दिगम्बर, दलपति गिरि नागा, लक्ष्मण गिरि प्रतापी, रघुनाथ पुरी कोतवाल, देव भारती, रघुनाथ बन, दया बन थाड़ेश्वरी, प्रयाग भारती भंडारी, महाभारती, नीलकंठ भारती ध्वजबंद (ध्वजा के रक्षक), शंकर पुरी अवधूत, बेनी पुरी अवधूत, मौनी देव बन पुरी, वैकुण्ठ पुरी।

महानिर्वाणी अखाड़ा, प्रयाग के अध्यक्ष महन्त लक्ष्मण गिरि ने अखाड़ों का एक विवरण गत ५ जनवरी सन् १९२९ ई० में लिखा है। वह छप गया है। उससे महत्त्वपूर्ण उद्धरण नीचे दिये जाते हैं।

अटल अखाड़ा सातों अखाड़ों में सबसे प्राचीन है। दिल्ली-बादशाहों के समय में इसमें तीन लाख आदमी थे। तोप, जम्बूर आदि सामान से यह सम्पन्न रहता था। हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए अटल अखाड़े ने अनेक योद्धा और वीर उत्पन्न किये हैं। इसका निवास

अधिकांश में जोधपुर राज्य में रहता था। जब काबुल और बलूचिस्तान के मुसलमानों ने जोधपुर पर आक्रमण किया और राजा को कर देना स्वीकार करने के लिए विवश किया उस समय अटल संन्यासियों की सेना ने वहाँ पहुँचकर मुसलमानों को पराजित किया। उनके अस्त्र छीन लिये और मारवाड़ पर फिर कभी आक्रमण न करने की, कुरान की शपथपूर्वक, प्रतिज्ञा करने के लिए उन्हें बाध्य किया। कृतज्ञ राजा ने नागौर तालुका गोसाइयों को दे दिया, जिनके नागौरस्थित प्रतिनिधि के अधिकार में आज भी वह है।

आवाहन अखाड़े में भी अनेक योद्धा हुए जिनका दिल्ली के बादशाह और लखनऊ के नवाब ने सम्मान किया। उदाहरण के लिए अनूप गिरि और उमराव गिरि।

मण्डलेश्वरों का विवरण

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ब्रिटिश भारत में विधर्मियों द्वारा होनेवाले आक्रमण तथा अँगरेजी सभ्यता और आधुनिक विचार के प्रसार से हमारे नेतागण हमारे धर्म पर आये हुए संकट का सामना करने के उद्देश्य से

आन्दोलन संगठित करने के लिए प्रेरित हुए। युग की आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त दसनामी संन्यासियों की कार्यशीलता के लिए एक नवीन मार्ग खोला गया। यह आवश्यक समझा गया कि हिन्दू मत के ऐसे विद्वान् व्याख्याता प्रेषित किये जायँ जो ईसाई मिशनवालों और भारतीय स्वच्छन्द चिन्तकों के आक्रमणों का उत्तर दे सकें तथा जो शिष्यों को उच्च शास्त्रीय ज्ञान की शिक्षा देकर हिन्दू धर्म के प्रचार का कार्य करने तथा हिन्दू जनता के अज्ञान को हरने में समर्थ हो सकें। हिन्दुओं के लिए अब यह उचित नहीं है कि उनके धर्म पर विधर्मियों द्वारा आक्रमण हों और वे उसे तटस्थ भाव से चुपचाप देखें तथा विज्ञान और दर्शन की सहायता से जो कुछ उचित पक्ष समर्थन किया जा सकता है, उसे भी न करें। किन्तु यह नवीन काम तब तक हाथ में नहीं लिया जा सकता था जब तक दो प्राचीनतर विभाग अस्त्रधारी और शास्त्रधारी अपने अपने मठों में रहते थे अथवा देश में पर्यटन भी करते थे तो बाहरी जनता के लिए हिन्दू धर्म के प्रचारक अथवा अध्यापक रूप में नहीं।

अब यह निश्चय किया गया कि इस सम्प्रदाय के प्रकाण्डतम विद्वानों की देख-रेख में संस्कृत विद्या और धार्मिक शिक्षा के केन्द्र स्थापित किये जायँ तथा जनता के

बीच में धार्मिक प्रचार करने के लिए योग्य संन्यासियों के दल तैयार किये जायँ। अन्य मतसमर्थकों के विवाद का उत्तर देने का यह सर्वोत्तम ढंग था।

धार्मिक व्यक्ति, जो साधु-चरित्र और शास्त्रीय पांडित्य दोनों के लिए समान रूप से प्रसिद्ध थे, अध्यापक पद के लिए स्वीकृत किये गये। प्राचीन काल में वे परमहंस कहे जाते थे। लेकिन लगभग सन् १८०० ई० से वे मंडलेश्वर कहे जाने लगे हैं। यह उपाधि दसनामियों द्वारा ही सात अखाड़ों में से किसी एक में अथवा हाल के किसी दिवंगत महन्त के विशेष मठ में, जब उसका उत्तराधिकारी विशेष रूप से पांडित्यसम्पन्न माना जाता है, दी जाती है। निर्वाचन के अनन्तर मंडलेश्वर के मस्तक में टीका लगाया जाता है। उसके अखाड़े अथवा मठ के अन्य सदस्यों द्वारा कुछ रुपये उसे नजर के रूप में दिये जाते हैं तथा एक लम्बी चादर उसके सिर पर लहराई जाकर उसे भेंट कर दी जाती है।

किसी एक अखाड़े का ऐसा भी सौभाग्य हो सकता है कि उसके पास उक्त कोटि के तीन-चार प्रकाण्ड पंडित हों। उस अवस्था में उनमें जो सर्वश्रेष्ठ होता है वही इस सर्वोच्चि पद के लिए निर्वाचित होता है तथा अखाड़े के आचार्यपद पर, अखाड़ेवालों के द्वारा, बिठाया जाता

है। उसका स्थान मोटे तौर पर मध्ययुग के ईसाई गिरजाघर के उस अध्यक्ष के समकक्ष है जिसके साथ किसी स्वावलम्बी धर्मविद्यालय के प्रधान के कुछ कर्त्तव्य संयोजित कर दिये जायँ।

इन मंडलेश्वरों में से अनेक ने मूल अखाड़े में से निकलकर अपने नवीन मठ स्थापित कर लिये हैं, जो स्वतंत्र विद्यालयों के रूप में चलते हैं। उनके मरने पर इन स्थानों में उनका काम उन्हीं के जैसे किसी ऐसे उत्कृष्ट विद्वान् और महात्मा द्वारा संचालित होता है जो दसनामी संन्यासियों ही में से निर्वाचित होता है।

कुछ व्यक्तिगत उदाहरणों द्वारा दसनामी सम्प्रदाय के अत्यन्त उपकारक कार्यों का सर्वोत्तम परिचय प्राप्त होगा।

(अ) निर्वाणी अखाड़े के मण्डलेश्वर

मंडलेश्वरों का उत्तराधिकार-क्रम इस प्रकार है—(१) स्वामी शुकदेव गिरि जी जो काशी में कम्पनी बाग के निकट नीची बाग में रहते और अध्यापन-कार्य करते थे। (२) श्री म० प० प० मण्डलेश्वर श्री स्वामी धनी गिरि जी, (३) श्री म० प० प० मण्डलेश्वर श्री स्वामी गोविन्दानन्द जी जिन्होंने सन् १९०० में टेढ़ी नीम नामक स्थान (काशी) में भवन बनवाया जो निर्वाणी गोविन्द मठ के नाम से प्रसिद्ध है।

(४) श्री म० प० प० मण्डलेश्वर श्री स्वामी जयेन्द्र पुरी।
(५) श्री म० प० प० मण्डलेश्वर श्री स्वामी कृष्णानन्द गिरि जी, निर्वाणी अखाड़े के वर्तमान आचार्य हैं।

श्री म० प० प० स्वामी विद्यानन्द निर्वाणी अखाड़े के मंडलेश्वर शक्तिशाली व्याख्याता हैं। उन्होंने अहमदाबाद, बड़ौदा तथा अन्य नगरों में गीता-मन्दिर की स्थापना की है। काशी में उन्होंने 'गीता-धर्म' प्रेस चलाया जिससे एक मासिक पत्र भी प्रकाशित किया गया।

श्री म० प० प० मण्डलेश्वर श्री स्वामी कृष्णानन्द भी निर्वाणी अखाड़े के थे। इन्होंने अमृतसर में मठ का निर्माण किया था। इनकी गद्दी पर इस समय मण्डलेश्वर श्री म० प० प० श्री स्वामी पूर्णानन्दजी हैं। इनके मठ और विद्यालय काशी और कनखल में भी हैं।

श्री म० प० प० मण्डलेश्वर श्री स्वामी महेश्वरानन्द जी का आश्रम और विद्यालय कनखल बँगला और बम्बई में है।

(आ) अटल अखाड़ा

(ब) घंटा कोठी, कनखल के म० प० प० मण्डलेश्वर श्री स्वामी भागवतानन्द जी बहुत प्रसिद्ध अध्यापक हैं। आप अटल अखाड़े के आचार्य हैं। काशी (घण्टाकर्ण)

में उनका एक मठ है। कुम्भ स्नान और उस समय के भोजन के अवसरों पर ये निर्वाणी अखाड़े के संन्यासियों में सम्मिलित होते हैं।

(इ) जूना अखाड़ा

मंडलेश्वरों का उत्तराधिकार-क्रम इस प्रकार है—(१) कूटस्थ स्वामी, (२) स्वामी फणीन्द्र यति, जो यति मंडलेश्वर कहे जाते हैं। (३) स्वामी परमात्मानन्द जिन्होंने काशी और कनखल में मठ का भवन बनवाया था। (४) स्वामी स्वरूपानन्द, (५) श्री म० प० प० श्री स्वामी परमानन्द आचार्य इस समय वर्तमान हैं।

(ई) निरंजनी अखाड़ा

मंडलेश्वरों का उत्तराधिकार-क्रम इस प्रकार है—(१) स्वामी राम गिरि जी, (२) स्वामी सच्चिदानन्द यति, (३) स्वामी रामानन्द जी, (४) श्री म० प० प० श्री स्वामी नृसिंह गिरि जी वर्तमान आचार्य।

इन नियमित अखाड़ों से पृथक् अपने अपने मंडलेश्वरों के अधीन कुछ स्वतंत्र मठ हैं।

(उ) आनन्द अखाड़ा

श्री म० प० प० मण्डलेश्वर श्री स्वामी महादेवानन्द गिरि हरद्वार आचार्य हैं।

(ऊ) आवाहन अखाड़ा

श्री म० प० प० मण्डलेश्वर श्री स्वामी मुरली-धरानन्द गिरिजी आचार्य।

(ए) हृषीकेश कैलाश आश्रम

उत्तराधिकार-क्रम—(१) स्वामी राम पुरी, (२) स्वामी धनराज गिरि, (३) स्वामी जनार्दन गिरि और जब उन्होंने पद त्याग किया तब उनके स्थान की पूर्त्ति स्वामी राम गिरि द्वारा हुई। (४) स्वामी गोविन्दानन्द, (५) श्री म० प० प० मण्डलेश्वर श्री स्वामी विष्णुदेवानन्द।

इन अध्ययन-अध्यापन-विशिष्ट मठों में से अधिकांश 'गुरु-शिष्याश्रम' कहे जाते हैं। रामायण और कालिदास के काव्यों में ऐसे आश्रमों की चर्चा आई है।

अखाड़ों के अन्तर्गत धर्म-विद्यालयों का विकास

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में निर्वाणी अखाड़े के अग्रणी गंगासागर में समुद्र-स्नान के लिए जाने पर अपने रक्षक महात्मा श्री कपिल मुनि के मन्दिर पर एकत्र हुए और वहाँ उन्होंने यह निश्चय किया कि संस्कृत भाषा और हिन्दू धर्मशास्त्र (वेद वेदांग आदि) के अध्ययन-अध्यापन

के लिए देश भर में पाठशालाएँ स्थापित की जायँ, जिससे ब्राह्मण-बालकों और मठधारी शिष्यों को पर्याप्त रूप से उच्च शिक्षा प्राप्त हो सके और हिन्दू-धर्म के योग्य प्रचारकों का एक दल सुलभ हो जाय। इसी के अनुसार सन् १९११ ई० में हरद्वार में महानिर्वाण वेद-विद्यालय की स्थापना हुई। लेकिन कुछ वर्षों के बाद उसे प्रयाग में स्थानान्तरित करना अधिक लाभकारी समझा गया और सन् १९१६ ई० में वह प्रयाग में आ गया। यह विद्यालय वर्त्तमान समय में निर्वाणी अखाड़ा (दारागंज) प्रयाग के तत्त्वावधान में चल रहा है।

इसमें सम्पूर्ण पाँच कक्षाओं के लिए पढ़ाई होती है अर्थात् प्रवेशिका, प्रथमा, मध्यमा लेकर शास्त्री तथा आचार्य की उपाधि-परीक्षाओं तक के लिए शिक्षा दी जाती है। व्याकरण, न्याय, वेदान्त, साहित्य और धर्मशास्त्र की शिक्षा (प्रत्येक कक्षा के लिए) काशी के गवर्नमेंट संस्कृत कालेज के शिक्षाक्रम के अनुसार दी जाती है।

इस विद्यालय की संचालक समिति का संगठन इस प्रकार है—

अध्यक्ष—स्वामी कृष्णानन्द गिरि, आचार्य मंडलेश्वर, काशी।
उपाध्यक्ष—महन्त लक्ष्मण गिरि, निर्वाणी अखाड़ा, प्रयाग।
मंत्री—महन्त गणपति भारती, निर्वाणी अखाड़ा, प्रयाग।

आचार्य-पद सर्वोच्च महत्त्व का है और यह उन पाँच या छः जीवित मंडलेश्वरों में से किसी एक को दिया जाता है जो सबसे अधिक विद्वान् माना जाता है।

कुम्भ में स्नान का अधिकार

प्रति बारहवें वर्ष कुम्भ राशि में बृहस्पति के प्रवेश की घटना हिन्दुओं में अत्यन्त पवित्र समझी जाती है और उनका विश्वास है कि वे किसी पवित्र नदी में विशेष कर गंगा में अथवा दक्षिण-भारत में गोदावरी (जो दक्षिणी गंगा कहलाती है) में स्नान करके अपने पापों की समाप्ति कर सकते हैं। इस अवसर को कुम्भयोग कहते हैं। साथ ही साथ माघ मास में अमावस्या पर जब सूर्य मकर राशि में प्रवेश करता है तब समस्त भारत में मुक्तिदायक स्नान और धार्मिक कृत्य किये जाते हैं। इसे मकर संक्रान्ति कहते हैं। तीन महीने के बाद अर्थात् अप्रैल में मेष संक्रान्ति आती है। यह वह समय है जब सूर्य मेष राशि में प्रवेश करता है। मेष संक्रान्ति भी मकर संक्रान्ति ही की तरह स्नानादि कृत्यपूर्वक मनाई जाती है, विशेष कर प्रयाग में गंगा-यमुना के संगम पर। जब मकर और मेष संक्रान्ति अमावस्या पर बृहस्पति कुम्भ राशि में रहता है तो ये संक्रान्तियाँ दुगुनी शुभ फलदायिनी हो जाती हैं

और तब वे क्रमशः मकर और मेष कुम्भ के नाम से सम्बोधित होती हैं। इन कुम्भ-स्नान के दिनों में हिन्दुओं की बहुत बड़ी संख्या हरद्वार और प्रयाग में एकत्र होती है। कप्तान हार्डविक के कथनानुसार सन् १७९६ ई० में हरद्वार-कुम्भ में २० लाख स्नानार्थी एकत्र हुए थे।

चार विभिन्न स्थानों में, और प्रत्येक स्थान में, एक नियत समय पर कुम्भ-मेला होता है। इन स्थानों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) प्रयाग में मकर कुम्भ-स्नान, जब सूर्य मकर राशि में प्रवेश करता है और बृहस्पति कुम्भ राशि में विद्यमान रहता है।

(२) हरद्वार में मेष कुम्भ-स्नान, जब बृहस्पति कुम्भ राशि में प्रवेश करता है और सूर्य मेष राशि में विद्यमान रहता है।

(३) गोदावरी नदी के तट पर त्र्यम्बक में सिंह कुम्भ-स्नान, जब गुरु सिंह राशि में प्रवेश करता है।

(४) उज्जैन (ग्वालियर रियासत) में कुम्भ।

इन अवसरों पर कौन पहले स्नान करे, इस प्रश्न के कारण पूर्वकाल में रक्तपातपूर्ण लड़ाइयाँ हो जाती थीं लेकिन ब्रिटिश सरकार ने प्राचीन काल से चले आते हुए प्रचलन के सम्बन्ध में पूछताछ करके निम्नलिखित

नियम बना दिये हैं, जिनका पालन मैजिस्ट्रेट लोग कड़ाई के साथ कराते हैं। पहले नागा गोसाईं अर्थात् अखाड़े स्नान करेंगे। उनके बाद वैष्णव वैरागी साधु, उनके बाद उदासी नामक पंथी सिक्ख और अन्त में निर्मला साधु सिक्ख।

अखाड़ों के सम्बन्ध में निम्नलिखित क्रम का पालन कराया जाता है। हरद्वार में पहले निरंजनी अखाड़े के साथ साथ जूना अखाड़ा, आवाहन और आनन्द अखाड़ा, उसके बाद निर्वाणी अखाड़े के साथ साथ अटल अखाड़ा।

प्रयाग में पहले निर्वाणी अखाड़े के साथ साथ अटल अखाड़ा स्नान करता है और उसके बाद शेष चारों अखाड़ों की बारी आती है। प्रथम विधिमूलक स्नान मकर संक्रान्ति को होता है। द्वितीय माघी अमावस्या को और तृतीय वसंतपंचमी को होता है।

इस अवसर पर त्रिवेणी के बालुकामय तट पर निर्वाणी अखाड़ा अपनी छावनी बनाता है और ५२ हाथ ऊँचे दो झंड़े गाड़ता इनके नीचे अखण्ड चण्डीपाठ होता रहता है। जब तक ये झंडे गड़े रहते तब तक प्रत्येक आगन्तुक को निःशुल्क भोजन दिया जाता है। उक्त तीन पर्वों के स्नान के अनन्तर होम किया जाता है। साथ साथ चंडीपाठ होता रहता है और साधुओं, मंडले-

श्वरों तथा साधारण ब्राह्मणों का भंडारा किया जाता है जिसमें ५२५ रुपया व्यय होता है।

प्रत्येक कुम्भ मेले में निर्वाणी अखाड़े का ३०,००० रुपया व्यय होता है। मेला समाप्त होने पर ये संन्यासी काशी को चले जाते हैं।

कुम्भ का प्रथम अँगरेजी वर्णन जो हमें उपलब्ध है, सन् १७९६ ई० में लिखा गया था, जब हरद्वार अँगरेजों के अधिकार में था। ८ अप्रैल सन् १७९६ ई० में कप्तान टामस हार्डविक नाम का एक अँगरेज पदाधिकारी डाक्टर हंटर के साथ हरद्वार में मेष संक्रान्ति के दिन मेले में आया था।

"........प्रति बारहवें वर्ष जब सूर्य के मेष राशि प्रवेश के समय बृहस्पति कुम्भ राशि में रहता है, जनता की भीड़ बहुत अधिक बढ़ जाती है। आज वैसा ही समय है और इस अवसर पर यहाँ एकत्र होनेवाली जनता मेरी समझ में अत्यन्त संयत अनुमान के अनुसार २० लाख से कम नहीं है।

"जन-संख्या और शक्ति की दृष्टि से गोसाईं यहाँ प्रथम स्थान रखते हैं।....मेले के प्रारम्भ में संन्यासियों के इस दल ने अपना महत्त्वसूचक निशान खड़ा कर दिया और स्वयंसेवकों को पुलिस का नियामक घोषित कर दिया।....

उन्होंने एक आज्ञा-पत्र प्रकाशित किया जिसमें अन्य जनवर्गों को तलवार अथवा अन्य किसी अस्त्र के साथ वहाँ आने से मना किया....शक्तिशाली होने में वैरागियों का द्वितीय स्थान था। उन्होंने संघर्ष त्याग कर गोसाइयों का पथानुसरण किया। इस प्रकार गोसाईं लोग तलवार और ढाल लेकर प्रदर्शन करते चलते थे और अन्य प्रत्येक दल केवल लाठी लेकर मेले में चल सकता था।

"परिणामतः शासन-शक्ति गोसाइयों के पुजारियों, पुरोहितों के हाथ थी जिन्हें महन्त की विशिष्ट उपाधि प्राप्त थी। मेले के समय तक पुलिस उनके अधीन थी और सब तरह का कर वे लगाते और वसूल करते थे।....कर का कोई भाग मराठा राज्य को नहीं भेजा जाता। ये महन्त प्रतिदिन मंत्रणा के लिए एकत्र होते हैं। वे सब तरह की शिकायतें, जो उनके सामने लाई जाती हैं, सुनते हैं और उन पर अपना निर्णय करते हैं, वे शिकायतें चाहे व्यक्तियों के विरोध में हों चाहे इस विशाल जन-समुदाय की सुव्यवस्था और शान्ति-भंग की प्रवृत्ति से सम्बन्ध रखती हों। अपने परिवारों समेत बारह या चौदह हजार घुड़सवारों के आ जाने तक गोसाइयों का अधिकार निर्विरोध बना रहा। इन सिक्खों ने जलालपुर के मैदानों में पड़ाव डाला। इस सिक्ख

सेना के तीन प्रधान थे—पटियाला के राजा साहेबसिंह, वेरिया के रामसिंह और शेरसिंह।

"दसवीं अप्रैल के सवेरे, जिस दिन मेला समाप्त हुआ, लगभग आठ बजे सिक्ख लोग....भिन्न भिन्न घाटों की ओर रवाना हुए। वहाँ पहुँच कर उन्होंने तलवारों, भालों और बन्दूकों से उन सभी साधुओं पर वार किया जो उनके सामने पड़े। ये लोग सब पैदल थे और इनमें से एक-आध ही ऐसे थे जिनके पास बन्दूक हो। ऐसी अवस्था में यह संघर्ष बराबरी का नहीं था। परिणाम यह हुआ कि घुड़सवार सिक्खों ने संन्यासियों, वैरागियों, गोसाइयों और नागा सभी को दुर्दमनीय प्रचंडता का परिचय देकर भगा दिया। उन्होंने उन्हें बहुत बड़ी संख्या में मार डाला और जो भागे उनका पीछा किया।

"यह सर्वसम्मत है कि लगभग ५,००० साधु मारे गये और उन्हीं में उनके एक महन्त मान पुरी भी थे। उनमें घायल होनेवालों की संख्या भी बहुत बड़ी थी। सिक्खों में लगभग २० मारे गये।" (एशियाटिक रिसर्चेज खंड ६)

सन् १८४० ई० में प्रयाग में मकर संक्रान्ति मेले का सुन्दर वर्णन प्रोटेस्टेंट मिशन से सम्बन्ध रखनेवाले एक ईसाई प्रचारक ने किया है। उसी ने उक्त मेले में

दस दिनों तक रहकर ईसाई मत के प्रचार का कार्य किया था। वह लिखता है—

"संक्रान्ति, जिससे मेले का श्रीगणेश हुआ, सन् १८४० ई० में २० जनवरी को पड़ी। उस समय के पूर्व से बहुत बड़ी संख्या में लोगों ने नदी-तट पर निवास करना शुरू कर दिया। साधुओं के अनेक सम्प्रदायों ने बहुत पहले ही से अपने लिए स्थान ठीक करना शुरू कर दिया। इनमें दो दल नागा साधुओं के थे जो छः वर्षों में केवल एक बार आया करते हैं। इनमें से एक सम्प्रदाय निर्वाणी और दूसरा निरंजनी कहलाता है। उनका इन दो वर्गों में विभाजन किसी सैद्धान्तिक मतभेद के कारण नहीं है, बल्कि भिक्षा-सम्बन्धी भ्रमणों की सुविधा मात्र के लिए है। निर्वाणी अखाड़े के सदस्यों ने हमें बतलाया कि इस समय उनके संघ में ५,००० व्यक्ति हैं। इसी प्रकार निरंजनी अखाड़े के लोगों ने बतलाया कि उनके संघ में २,००० व्यक्ति हैं....वर्त्तमान बड़े महन्त का नाम लाल गिरि है। दोनों दल प्रयाग, गया, जगन्नाथ, गोदावरी, रामेश्वर, गंगासागर, हरद्वार तथा कुछ अन्य स्थानों के भिन्न-भिन्न मंदिरों के दर्शनार्थ नियमित रूप से यात्राएँ किया करते हैं। वे इन सम्पूर्ण तीर्थों की परिक्रमा छः वर्षों में पूरी करते हैं।

उन्होंने अपने लिए कुछ विशेष सुरुचिपूर्वक भूमि निर्दिष्ट की। उस पर उन्होंने दो पंक्तियों में एक दूसरे के सामने, पचास कदमों की दूरी पर स्थित, फूस की छोटी झोपड़ियाँ खड़ी कीं। इनके भीतर बहुत साफ-सुथरे कमरे बन गये। प्रत्येक कुटी के सामने चार फुट ऊँची मिट्टी डाल दी गई है जिसमें कुछ इंच ऊँची एक दीवार सिरे के चारों ओर फैली हुई है। इस पर गोबर की सुन्दर लिपाई हो गई है। इन चबूतरों पर दिन में वे धूप का सेवन करते हैं और अपने धर्मग्रन्थों के पाठ अथवा सम्भाषण अथवा निद्रा का आनन्द (अपनी प्रवृत्ति के अनुसार) लेते हैं।

उनके प्रत्येक डेरे के केन्द्र में एक शानदार झंडा बहुत ऊँचे बाँस में झूलता रहता है....ध्वजदंड के पार्श्व में मिट्टी का एक स्तूप निर्मित किया गया है जो २० वर्ग फुट के आधार पर पन्द्रह फुट ऊँचा है और उसके चारों ओर सीढ़ियाँ, ऊपर चढ़ने के लिए, बनी हुई हैं। इस स्तूप की चोटी पर कुछ शंख, एक पुष्पपात्र, महादेव की एक छोटी मूर्ति और कुछ विशेष चिकनी पालिशवाले मोमबत्ती-दंड रखे हुए हैं....उस पर कुछ सुसंगत दूरी पर एक बड़ा शामियाना है जो चारों कोनों पर लटक रहा है। इसमें चार पृथक् शामियाने सुन्दर किनारीवाले गुलाबी

रेशम और गहरे लाल रंग के मखमल के हैं। इनमें से प्रत्येक का आकार उसी क्रम से छोटा होता चलता है जिस क्रम से सम्पूर्ण लड़ी में उसका स्थान नीचा होता जाता है। उसे देखकर एक विपर्यस्त स्तूप की धारणा चित्त में उपस्थित होती है।

निर्वाणी सम्प्रदाय के प्रधान व्यक्ति पर्व के दिनों में सात बड़े हाथियों पर, जिन पर शानदार झूल पड़ी रहती है और जिन पर अनेक भव्य झण्डे फैले रहते हैं, प्रदर्शन-पूर्वक बाहर निकलते हैं। कुछ व्यक्ति बढ़िया से बढ़िया घोड़ों और ऊँटों पर चढ़े होते हैं और कुछ सशस्त्र होते हैं। गदकाधारी सबके पूर्ववर्ती होकर तथा अनेक राजचिह्नों समेत चलते हैं। तब इसके पीछे पीछे दल के जनसाधारण अपनी विचित्र विभूति-विशिष्ट नग्नता ही का वस्त्र सा धारण किये हुए चलते हैं। दूसरा दल लगभग इसी प्रकार के प्रदर्शन करता हुआ उनके पीछे चलकर नदी-तट पर पहुँचता है जहाँ सब लोग स्नान करते हैं।

गोसाइयों के एक दल का प्रयाग में प्रधान स्थान है। उसके बड़े महन्त का कुछ समय पूर्व स्वर्गवास हो गया। उक्त दल ने मेले के अवसर पर ही अन्य महन्त को गद्दी पर बिठाने के लिए नियत किया। साधारणतः अथवा शिष्टाचारवश उसे नागा, गोसाईं, उदासी साधुओं के

सम्पूर्ण समाज को भोज के लिए निमंत्रित करना पड़ा। नियत दिन आने पर वे सभी किले के कोने से फैले हुए टीले पर एकत्र हुए। वे प्रायः नंगे थे और नंगे ही दो के सामने दो होकर समथल भूमि पर बैठ गये....उन्होंने आटा, चीनी और दो-एक अन्य वस्तुओं के मिश्रण से तथा घी में भूनकर तैयार किये गये दो दो लड्डू प्रत्येक व्यक्ति के लिए परोस दिये।....प्रत्येक के सामने एक पत्तल थी जो पत्तियों में सींकें लगाकर बनाई गई थी.... सबने लड्डू खाये। इसके बाद (पत्तियों ही के बने हुए पात्र) दोने में थोड़ा दही परोसा गया। दूसरे दिन सबेरे भोज से बची हुई मिठाइयाँ ब्राह्मणों, तथा नागा गोसाइयों को बाँट दी गईं। हमारे स्थान के पास से होकर बीस व्यक्ति अपने सिर पर भरे हुए टोकरे रखे नागा लोगों के डेरे की ओर गये। उनके आगे आगे गदकाधारी थे और दो व्यक्ति तुरही बजा रहे थे।

नागा साधुओं के दोनों दल कुछ निश्चित समय के अन्तर पर अथवा कुछ विशेष अवसरों पर होम करते हैं। वे अनेक संस्कारों के साथ तथा धर्मग्रन्थों से मंत्र पढ़ते हुए अग्नि में हव्य-सामग्री छोड़ते हैं। इस हव्य-सामग्री में घी, कई प्रकार के अन्न और फल आदि सबके सब वनस्पति पदार्थ ही होते हैं। हवन बड़े

महन्त करते हैं और उच्च पदवीवाले अन्य व्यक्ति उनकी सहायता करते रहते हैं।" (कलकत्ता क्रिश्चियन आबजर्वर १८४०, पृ० २४३, २५१ नामांकित डबल्यू।)

सन् १८८२ ई० के कुम्भ मेले का श्रीयुत टी० बैंसन, आई० सी० एस० ने अपने विवरण में इस प्रकार उल्लेख दिया है :—

"सन्तों के प्रत्येक अखाड़े के लिए भूमि दे दी गई जिसके भीतर उन्होंने अपने सदस्यों के निमित्त निवासस्थान बना लिया। केन्द्र में एक ऊँचे ध्वजदण्ड पर उनकी पताका लहराती थी। ये निवासस्थान बहुत सुव्यवस्थित, सुनिर्मित और सब तरह की सुविधाओं से युक्त थे।"

भिन्न भिन्न अखाड़े ये थे :—

१—निर्वाणी नागा गोसाईं।

२—निरंजनी और जूना अखाड़ा।

३—बैरागी, जिनके अन्तर्गत तीन सम्प्रदाय हैं।

४—छोटा अखाड़ा पंचायती उदासी नानकपंथी।

५—बड़ा अखाड़ा पंचायती और अखाड़ा सिक्ख।

६—निर्मली सिक्ख और वृन्दावनी।

मकर संक्रान्ति, अमावस्या और वसंतपंचमी के पर्वों पर उक्त छः वर्गों में से प्रत्येक नियमानुकूल जुलूस

बनाकर पृथक् पृथक् स्नान करने के लिए गया। निर्वाणी और निरंजनी अखाड़ों के जलूस के अन्त में नागा साधुओं का समूह था। वे और विशेष ऐश्वर्य-सम्पन्न अखाड़ों के रेशमी झंडे तथा हाथियों पर की झूलें सबसे अधिक उल्लेख योग्य थीं।

सप्तम अध्याय

गृहस्थ गोसाईं

इस सम्प्रदाय का विवाहित वर्ग इसका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और बहुत विस्तृत अंग है। दक्षिण भारत में यह 'गोसावी' के नाम से प्रसिद्ध है। गोसावी संस्कृत के गोस्वामी शब्द का मराठी अपभ्रंश है। गोस्वामी का अर्थ है धार्मिक नेता अथवा शब्द-व्युत्पत्ति-विज्ञान की दृष्टि से एक ऐसा व्यक्ति जिसने अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त कर लिया है। इसी प्रकार उत्तरी भारत के वैष्णव सम्प्रदाय में धार्मिक गुरु और पुरोहित—वे विवाहित हों अथवा ब्रह्मचारी—गोस्वामी अथवा जैसा कि अधिक प्रचलित है, गोसाईं कहलाते हैं।

दक्षिण के विवाहित गोसावियों में से अनेक (उत्तरी भारत के) गोसाइयों की तरह अब भी अपने वंशानुगत शिष्यों के धर्मोपदेशक और पुरोहित पदों पर काम करते हैं लेकिन कुटुम्ब-विस्तार के परिणामस्वरूप पिछली शताब्दियों में उन्होंने अन्य लौकिक व्यवसायों को ग्रहण कर लिया है। इस प्रकार सन् १९११ की जनगणना में यह पाया गया

कि बरार में ३७ प्रतिशत गोसावी पुरोहिती का काम करते थे, ४७ प्रतिशत ने कृषक-वृत्ति स्वीकृत कर ली थी।

बंगाली गोसाइयों की कोई पृथक् जाति नहीं है। वे ब्राह्मण जाति के अभिन्न अंग हैं और प्रान्त के अन्य सम्प्रदाय के ब्राह्मणों से वैध रूप से विवाह कर सकते हैं। परन्तु दक्षिण भारत के सनातनी ब्राह्मण, जिनका सम्बन्ध अन्य सम्प्रदायों से होता है, यह कहकर अनुचित रूप से गोसावियों का तिरस्कार करते हैं कि वे शूद्रों से किसी प्रकार उच्चतर नहीं हैं, क्योंकि विवाह करके वे अपने उच्च आध्यात्मिक आदर्श से गिर गये हैं और अशुद्ध अनैतिक हो गये हैं (व्रात्य)।

यह तर्क अनौचित्यपूर्ण है। हिन्दुओं में पूर्वतम वैदिक युग से विवाह एक संस्कार माना गया है जो संसार में रहनेवाले प्रत्येक मनुष्य के लिए आवश्यक है। वैदिक ऋषियों की पत्नियाँ थीं। जब तक पत्नी पति के साथ न हो, धार्मिक अनुष्ठानों को पूर्णता नहीं प्राप्त होती।

प्राचीनतम ईसाई-संघ में कौंसिल ऑव ट्रूलन (६८० ई०) ने धर्मोपदेशक तथा उनके नीचे के धर्माधिकारियों को विवाह की अनुमति दे दी थी किन्तु प्रधान धर्मोपदेशक का ब्रह्मचारी रहना आवश्यक था और अगर वे पहले से विवाहित हों तो उनकी स्त्री को उनसे अलग होकर

संन्यासिनियों के मठ में प्रविष्ट होने का आदेश था। यह नियम अब भी ईसाइयों में पूर्वी अथवा यूनानी गिरजाघर में प्रचलित है।

इसी प्रकार दसनामियों में यदि कोई व्यक्ति संन्यासाश्रम में प्रवेश करने के पहले विवाहित हो तो वह महन्त पद के लिए निर्वाचित होने के अयोग्य हो जाता है। रोमन कैथलिक सम्प्रदाय में ईसा के पश्चात् प्रथम सहस्राब्दी के अन्त में योरप में साधारणतया धर्माधिकारियों की बहुत बड़ी संख्या विवाह सम्बन्ध का पालन करती थी और जब कभी ब्रह्मचर्य का नियम प्रचलित किया जाता था, रखेलियाँ रखने की निन्द्य प्रवृत्ति बढ़ जाती थी। (डाक्टर जी क्रास) ईसाई धर्म की इस शाखा में धर्मोपदेशकों के लिए ब्रह्मचर्य का नियम सन् १०७३ ई० में पोप निर्वाचित होनेवाले ग्रेगारी सप्तम के समय के पहले तक प्रचलित नहीं किया गया था।

प्रोटेस्टेंट चर्च में धर्मोपदेशक और बड़े गिरजाघरों के प्रधान धर्माधिकारी भी (जिन्हें हम अपने यहाँ के मठों के महन्तों के समकक्ष समझ सकते हैं) विवाह कर सकते हैं।

इस प्रकार यह मत कि धर्मोपदेशक का कार्य सम्पन्न करते हुए गोसावी लोग पतित अथवा कुजाति हो गये, इतिहास-विरुद्ध है तथा हिन्दू-धर्म के मौलिक सिद्धान्तों के

विरुद्ध है। आधुनिक काल में अनेक मठधारी दसनामियों ने विवाह किया है, विशेषकर गुजरात और उत्तर प्रदेश में और वे गृहस्थ गोसावी हो गये हैं। यह कोई पापपूर्ण कार्य नहीं है।

आज गोसावी सर्वश्रेष्ठ व्यापारियों, महाजनों और व्यवसायियों में से हैं, विशेषकर दक्षिण-भारत में। वे सदैव अपनी जाति के धार्मिक वर्ग अर्थात् मठधारियों और अखाड़ों की रीढ़ हड्डी अथवा प्रधान अवलम्ब-स्वरूप हैं।

बरार और बम्बई प्रान्त में गोसावी नाम से विशेष रूप से विख्यात जन वर्ग की स्थिति का परिचय, पूना नगर में इन लोगों के सम्बन्ध में, निम्नलिखित विवरण से स्पष्ट रूप से प्राप्त हो सकता है। धार्मिक संत-श्रेणी के अन्तर्गत १७९८ की सम्पूर्ण संख्या में ५२७ वैरागी हैं और ९५६ गोसावी। ये अंक सन् १८८१ की जनगणना के हैं। गोसावी अधिकांश में गोसावीपुरा में रहते हैं जो गोसावियों के नाम पर प्रचलित एक सड़क है। गोसावी-पुरा में बड़े बड़े महल हैं जिन्हें गोसावी लोग मठ या धार्मिक भवन कहते हैं। वे भिक्षुक तो नाममात्र के हैं। उनमें से बहुत से व्यापारी और कुछ महाजन हैं। स्वर्णकार, बढ़ई तथा अन्य कार्यकर श्रेणियों और मराठों से नीचे की श्रेणियों को छोड़कर शेष सभी वर्णों से वे बेरोक-टोक

भरती करते हैं। रखेलियों से होनेवाले तथा गोसावी होने के लिए जिन बच्चों का व्रत हो चुका है उन्हें वे अबाध रूप से स्वीकार करते हैं। वे घर-बारियों और निःस्पृहियों अथवा ब्रह्मचारियों में विभक्त हैं और सब साथ भोजन करते हैं। वर्गरूप में पूना के गोसावी साफ-सुथरे, नियमित और अतिथि-सत्कार-परायण हैं। पहले गोसावी लोग धर्मार्थ दान प्राप्त करने का बहाना करके सशस्त्र दल के रूप चला करते थे लेकिन उनका असली काम होता था लोगों पर कर लगाना और जहाँ कहीं उनका विरोध करने में असफल होते थे वहाँ वे लूट-मार करते थे और बड़े अत्याचार करते थे। बाद को सन् १७८९ ई० में पहले माधोजी सिंधिया ने तथा बाद को अन्य प्रधान मराठा राजाओं ने उन्हें अपनी सेना में भरती कर लिया। पेशवाओं के समय में वे बहुत बड़े जौहरी और शाल के व्यापारी थे और भिन्न भिन्न वस्तुओं का वाणिज्य करते थे। सन् १८३२ ई० में जैकीमांट ने अपने वर्णन में उन्हें धार्मिक विशेषतायुक्त महाजन और व्यापारी बतलाया है। पूना के धन का अधिकांश उनके हाथों में था। वे प्रधानतः मारवाड़ और मेवाड़ से आये थे और वहीं के बच्चों को उन्होंने अपने यहाँ स्वीकार किया था। (कैम्पबेल, बम्बई गजेटियर भाग १८, खंड ३, पृ० ३०१, ३०२)

कुछ सुप्रसिद्ध उदाहरणों से प्रधान विवाहित गोसांइयों के प्रभाव और निवास के सम्बन्ध में निर्णय किया जा सकता है।

पेशवा बाजीराव प्रथम ने वज्रेश्वरी देवी का एक मंदिर वैद्वाली नामक ग्राम में बनवाया और देवी की पूजा के लिए पाँच गाँवों की माफी दी। गत पाँच पीढ़ियों से इस मंदिर के पुजारी गृहस्थ गोसावी होते आये हैं।

———

अष्टम अध्याय

योद्धा हिन्दू पुरोहित—उनका पूर्व इतिहास

योरप और भारत दोनों ही स्थानों में यह साधारणतया माना जाता है कि हिन्दू वर्णव्यवस्था ने जीवन-व्यवसायों के अनुसार हिन्दुओं का कठोर विभाजन कर दिया है और प्रत्येक वर्ण केवल एक ही व्यवसाय का अवलम्बन कर सकता है। परिणामतः ब्राह्मण पुरोहित और धर्मशिक्षक के कार्य के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य नहीं कर सकते अथवा क्षत्रियों को लड़ाइयाँ लड़ने और राज्य-शासन के अतिरिक्त अन्य कोई काम करना ही न चाहिए तथा इस नियम का उल्लंघन एक वर्ण का दूसरे वर्ण के ईश्वर-विहित कार्याधिकार पर पापपूर्ण हस्तक्षेप समझा जायगा। किन्तु सच्चे प्राच्य विद्वान् जानते हैं कि यह लोक-स्वीकृत सिद्धान्त गलत है और हमारे देश के आधुनिक इतिहास ने भी इसके ठीक विरोध में जानेवाले अनेक उदाहरण उपस्थित किये हैं। ऋग्वेद के प्रारम्भिक काल से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक—जब ईस्ट इंडिया कम्पनी की बंगाल सेना के अधिकांश रँगरूट अवध के

पाण्डे, चौबे, दूबे उपाधिधारी ब्राह्मण थे—ब्राह्मण जाति ने अनेक योद्धा उत्पन्न किये हैं। सच तो यह है कि सिपाही-विद्रोह में ब्रिटिश सैनिकों ने विद्रोही सिपाहियों को साधारणतया पाण्डेय नाम दे रखा था। हम यह भी जानते हैं कि मराठा ब्राह्मण, चाहे वे पेशवाओं के चित-पावन वर्ग के हों, चाहे वीर झाँसी की रानी के कह्लाडा वर्ग के अथवा सिंधिया के प्रसिद्ध सेनापति जिवबा दादा बख्शी और लखवा दादा लाद की सारस्वत शाखा के, सब के सब सैनिक और धर्मगुरु अथवा पुरोहित दोनों थे।

इसी प्रकार क्षत्रियों की योद्धा जाति ने केवल सैनिक और शासक ही नहीं उत्पन्न किये हैं, उसने अगणित भ्रमणशील साधुओं और मीराबाई जैसी एक लोकसम्मानित महात्मा देवी के अतिरिक्त जनक और गौतम बुद्ध सरीखे धर्मोपदेशक और महात्मा भी प्रस्तुत किये हैं। अतएव यदि ब्राह्मण वर्ण का कोई व्यक्ति धर्म अथवा देश की रक्षा के लिए अस्त्र उठा लेता है अथवा क्षत्रिय वर्ण का कोई व्यक्ति संन्यास पथ ग्रहण कर धर्म-शिक्षक हो जाता है तो यह न तो तर्क की दृष्टि से असंगत है और न इसमें हिन्दू धर्म के मौलिक सिद्धान्तों के विरुद्ध ही कहीं कुछ है। दसनामी अखाड़े हिन्दू धर्म के इस लचीलेपन के

एक अन्य उदाहरणस्वरूप हैं जैसा कि नीचे प्रमाणित होगा।

योद्धा ब्राह्मणों के सम्बन्ध में हमें प्रथम निर्विवाद ऐतिहासिक प्रमाण ईसा से ३ वर्ष पूर्व सिकन्दर के आक्रमण के समय में मिलता है। सिकन्दर ने मालवा-वालों (यूनानी नाम मल्लोई) का पीछा करते हुए रावी (यूनानी नाम हाईड्रेओटिज) नदी पार करके ब्राह्मणों के एक नगर के विरुद्ध अपनी घन पंक्तिबद्ध सशस्त्र पैदल सेना का स्वयं ही नेतृत्व किया था, क्योंकि उसे पता लगा था कि मालवावाले कुछ लोग वहाँ शरणार्थी हुए थे। वह चतुर्दिक् नगर-रक्षक प्राचीर तक अपनी सेनाओं को ले गया। शत्रुगण बाणों से परास्त होकर रक्षा के लिए केन्द्रिक गढ़ में चले गये थे और वहीं से आत्मरक्षा का प्रयत्न करने लगे थे। कुछ यूनानी सिपाही वहाँ प्रवेश कर गये तो वे घूम पड़े और उन्होंने उनको मार भगाया तथा उनमें से पच्चीस को मार डाला। लेकिन यूनानी सिपाही (मैसीडोनिया नगर के) सीढ़ियों की सहायता से दीवाल पर चढ़ गये और केन्द्रिक गढ़ शीघ्र ही उनके अधिकार में आ गया। भारतीयों में से अधिकांश लड़ते हुए मारे गये। कुल मिला कर लगभग ५०००

आदमी मारे गये और जीवटवाले आदमी होने के कारण जो जीवित बचे उनमें से बहुत कम बन्दी हो सके। (चिनाककृत अँगरेजी अनुवाद ३०३, ३०४) यह नगर पंजाब के आधुनिक मांटगोमरी प्रान्त में था।

नागा संन्यासियों को यूनानी लोग जिम्नो सोफिस्ट कहते थे, जिसका शाब्दिक अर्थ है नंगे दार्शनिक। उनका वर्णन आरियन ने अपनी इंडिका में इस प्रकार किया है—दार्शनिकों अर्थात् ब्राह्मणों की जाति सबसे अधिक प्रतिष्ठित, सम्मानित और गौरवयुक्त है। उन्हें किसी प्रकार का शारीरिक परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं है। देवताओं को नैवेद्य चढ़ाने के अतिरिक्त कोई ऐसा काम नहीं जो उन्हें अनिवार्य रूप से करना पड़े। ये दार्शनिक नंगे रहकर अपना जीवन व्यतीत करते हैं। जाड़ों में खुले आकाश के नीचे धूप में लेकिन गरमी के दिनों में जब सूर्य बहुत तपने लगता है, वे घास के मैदानों और आर्द्र स्थानों में पेड़ों के नीचे रहते । (इंडिका चिनाक कृत अनुवाद, पृ० ४११,४१२)

नंगे ब्राह्मणों के प्रति सिकन्दर के व्यवहार का वर्णन प्लूटार्क ने किया है जिसमें उस प्राचीन काल में इन महापुरुषों का यथार्थ चित्रण प्राप्त होता है। इस चढ़ाई के सिलसिले में मल्लोई लोगों के विरुद्ध, उसने

दस नागा साधुओं को, जिनका सम्बो (शम्भू) लोगों को विद्रोह के लिए उभाड़ने में प्रधान रूप से सम्बन्ध था और जिनके कारण यूनानी सिपाहियों को और भी अनेक क्लेश मिले थे, पकड़ लिया। ये अपने उत्तरों में बहुत संक्षिप्त और चतुर समझे गये। इस कारण उसने इनसे कठिन से कठिन प्रश्न, जो कल्पना में आ सकते थे, पूछे। अन्त में बादशाह ने उन्हें अपनी भेंटों से भारावनत करके बिदा किया। इसके बाद डायोजिनीज के शिष्य ओनेसी क्रिटस को उसने अन्य भारतीय महात्माओं के पास, जो अत्यन्त प्रसिद्ध थे और विरक्त जीवन व्यतीत कर रहे थे, इस उद्देश्य से भेजा कि वह उन्हें उसके पास ले आवे। ओनेसी क्रिटस का कहना है, कि कैलेनस ने उसके साथ उद्दण्डता और कठोरता का व्यवहार किया और कहा कि अगर तुम मेरा उपदेश सुनना चाहते हो तो पहले नागा बनो। तुम बृहस्पति ही के पास से क्यों न आये हो किन्तु किसी अन्य शर्त पर तुम मेरा उपदेश नहीं प्राप्त कर सकते। डैन्डैमिस (दंडित) ने अधिक सभ्यता का बर्ताव किया और जब ओनेसी क्रिटस ने उसे पाइथागोरस, सुकरात और डायोजीनीज के सम्बन्ध की बातें बताईं तो उसने कहा कि वे प्रतिभा-शाली व्यक्ति समझ पड़ते हैं। किन्तु सिद्धान्तों के प्रति उनके भाव में अत्यन्त अधिक सहनशीलता जान पड़ती है।

कैलेनस के सम्बन्ध में तो यह निश्चित है कि तक्षशिला के राजा के प्रभाव से वह सिकन्दर से मिलने गया। उसका असली नाम स्फाइंस (कल्याण) था, लेकिन 'काले' शब्द से लोगों को सम्बोधित करने के कारण, जो भारतीय आशीर्वाद का एक रूप है, यूनानी लोग उसे कैलेनस कहते थे। (प्लूटार्क कृत जीवनचरित्र)

मौर्य सम्राट् बिन्दुसार के दरबार में यूनानी राजदूत मैगेस्थनीज द्वारा लिखित भारतीय वृत्तान्त के प्रचलित खण्डों में तत्कालीन ब्राह्मण संतों के सम्बन्ध में कोई ध्यान देने योग्य जानकारी की बात नहीं मिलती।